भोट-भारती ग्रन्थमाला ३३

रत्नकीर्ति विरचित

अपोहसिद्धि

गोविन्दचन्द्र पांडे

कृत

अनुवाद और व्याख्या



केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५३८ सन् १९९५ ई०

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA SERIES XXXIII

APOHASIDDHI

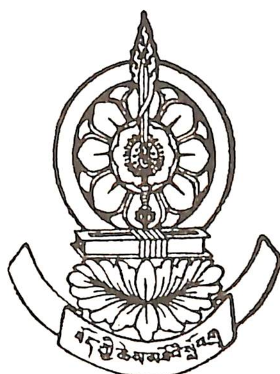
by

Ratnakīrti

Translated & Annotated

by

G. C. Pande



भोट विद्या संस्थानम्

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES

SARNATH, VARANASI

B.E. 2538 C.E. 1995

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA SERIES XXXIII

Chief Editor : *Prof. Samdhong Rinpoche*

First Edition : 550 copies, 1995

Price : Rs. 35.00

Publisher: Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi-221007, India.

Printed at Shivam Printers, Maldahiya, Varanasi.

भोट-भारती ग्रन्थमाला ३३

रत्नकीर्ति विरचित

अपोहसिद्धि

गोविन्दचन्द्र पांडे

कृत

अनुवाद और व्याख्या



केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५३८ सन् १९९५ ई०

भोट-भारती ग्रन्थमाला ३३

प्रधान सम्पादक : प्रो. समदोङ् रिनपोछे

प्रथम संस्करण : ५५० प्रतियाँ, १९९५

मूल्य : रु० ३५.००

प्रकाशक :
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी - २२१००७

मुद्रक : शिवम् प्रिन्टर्स, मलदहिया, वाराणसी ।

प्रकाशकीय

वर्तमान भारत में बौद्ध दर्शन के सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक विद्वान् प्रो0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय द्वारा उपयोगी टिप्पणियों एवं परिशिष्टों सहित संपादित 'अपोहसिद्धि' ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करने की अनुमति देकर पाण्डेय जी ने वस्तुतः इस संस्था को अत्यन्त गौरव प्रदान किया है। मैं इसके लिए आभारी हूँ। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन से बौद्ध दर्शन के अध्ययनकर्त्ताओं, शोधार्थियों एवं जिज्ञासुओं को निश्चय ही लाभ होगा।

स0 रिन्पोछे
निदेशक

इस संस्करण की भूमिका

बौद्ध दर्शन को नये लिबास में पाठकों तक पहुँचाने से शायद उसकी चर्चा आगे बढ़े, इस आशा से इस पुस्तक का प्रणयन हुआ था । पहला संस्करण कई वर्ष पूर्व समाप्त हो चुका था । इस स्थिति में पुस्तक को फिर से पाठकों के लिए सुलभ बनाने का भार स्वीकार कर डॉ० स० रिन्पोछे ने मुझ पर गहरा अनुग्रह किया है । श्री सम्तेन छोस्फेल की कार्य प्रवीणता के बिना यह कार्य सम्पन्न न हो पाता ।

शिवरात्रि २७–२–९५ **गोविन्द चन्द्र पांडे**
इलाहाबाद

दो शब्द

गत वर्ष दर्शन विभाग की कुछ छात्राओं ने एम0 ए0 फाइनल की परीक्षा के लिए बौद्ध दर्शन को विशेष अध्येतव्य पत्र के रूप में चुना था । उनके अध्यापन के प्रसंग में प्रस्तुत पुस्तक की आवश्यकता प्रतीत हुई और तभी इसकी रचना का श्रीगणेश भी हुआ । मित्रवर शल्यजी ने इस प्रयास को उपयोगी बताकर इसे वर्तमान रूप में पूरा करने के लिये प्रोत्साहित किया । उनकी सहायता से ही यह प्रस्तुत रूप में आपके समक्ष है ।

राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर
१३.५.१९७१

गोविन्दचन्द्र पांडे

विषय सूची

प्राक्कथन

अपोहसिद्धि के रचियता रत्नकीर्ति विक्रमशिला महाविहार के ज्ञानश्रीमित्र के शिष्य थे और उनका समय लगभग ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानना चाहिए । ज्ञानश्रीमित्र स्वयं धर्मकीर्ति के **प्रमाणवार्तिक** के भाष्यकार प्रज्ञाकरगुप्त की शिष्य-परम्परा में थे । रत्नकीर्ति की **अपोहसिद्धि** उसी विषय पर ज्ञानश्रीमित्र की विपुलतर कृति पर आधारित है । म0 म0 हरप्रसाद शास्त्री ने **'सिक्स बुद्धिस्ट न्याय ट्रेक्ट्स'** में एवं अनन्तलाल ठाकुर ने रत्नकीर्ति-निबन्धावली में अपोहसिद्धि का सम्पादन किया है । हाल ही में धीरेन्द्र शर्मा ने **'दि डिफ्रेन्सियेशन थ्यिरी आव मीनिंग इन इन्डियन लोजिक'** के नाम से इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया है । इस अनुवाद से प्रस्तुत अनुवाद में बहुत भेद हैं, यद्यपि यह सम्भव है कि अभी भी मूल ग्रन्थ का आशय सब स्थलों पर पूरा स्पष्ट न हो पाया हो । वस्तुतः इस प्रकार के दार्शनिक ग्रन्थों के ठीक अनुवाद में एक प्रकार की व्याख्या अनिवार्यतया अन्तर्निहित होती है और इसीलिए, यदि 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' वाला अनुवाद छोड़ दिया जाए, तो अनुवादों में विविधता अपरिहार्य हो जाती है । यह कहना अनावश्यक है कि अनुवाद दार्शनिक जिज्ञासुओं के लिए है और इसलिए इसमें अनेकत्र मूल-ग्रन्थ की शब्द-भंगी के संरक्षण की अपेक्षा अभिप्रेत अर्थ के प्रकाशन को अधिक महत्व दिया गया है ।

शब्द-गोचर अर्थ के तात्विक स्वरूप को लेकर प्राचीनकाल से विचार चला आता है । "वेद शब्द-रूप हैं और परमार्थ के ज्ञापक हैं" यही मुख्य वैदिक परम्परा थी । इस कारण वैय़ाकरण, मीमांसक एवं वेदान्ती शब्द को नित्य मानते आए हैं । अर्थ के विषय में उनमें भेद है । प्राचीन वैयाकरण जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूप उपाधियों में शब्द की चतुर्विध प्रवृत्ति मानते थे । मीमांसक अर्थ को जातिरूप मानते थे । इन मतों के विरुद्ध नैयायिक शब्द को अनित्य मानते थे और उसके अर्थ को जाति एवं आकृति से युक्त व्यक्ति से अभिन्न- 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः :न्यायसूत्र (२-२-६५): ।

बौद्धों के लिए सभी कुछ क्षण-भंगुर होने के कारण जाति अथवा सामान्य अवस्तु हो जाते हैं । गुणों से पृथक् द्रव्य, क्रिया से पृथक् कारक, अवयवों से पृथक् अवयवी इनकी सत्ता भी बौद्ध स्वीकार नहीं करते । फलतः व्यवहार में अथवा न्याय दर्शन में स्वीकृत नित्यानित्य, विशेषण-विशिष्ट, अनेक-संसृष्ट पदार्थों का विश्व बौद्धों के लिए वास्तविक न होकर शाब्दिक बन जाता है । साथ ही साथ शब्दों के अर्थ वस्तु-जगत् के अन्तःपाती न होकर काल्पनिक बन जाते हैं । शब्द और कल्पना नित्य-सहचर हैं और उनका विश्व वास्तविक जगत् पर आरोपित है । वस्तुओं के अनुभव को हम अनादि वासना के अनुरूप साँचों में ढालकर समझते, याद करते और व्यक्त करते हैं । इन साँचों अथवा विकल्प का वास्तविकता से परम्परा-सम्बन्ध बना रहता है । इसी कारण शब्द व्यवहार में उपयोगी होते हुए भी वस्तु-स्वरूप से अछूते रहते हैं । जहां वस्तु अद्वितीय और विध्यात्मक होती है, शब्द केवल परस्पर-व्यावृत्त द्वन्द्वों को प्रतिबिम्बित करते हैं ।

शब्दों के गोचर अर्थ को अवास्तविक पर व्यावहारिक विकल्प बताना बौद्धों की आध्यात्मिक परम्परा के अनुकूल है । परमार्थ को वाङ्मनस के अगोचर मानकर ही भगवान् बुद्ध ने तद्विषयक प्रश्नों के उत्तर में आर्यमौन साधा था : "गुरोस्तु मौनं व्याख्यानम्" । शब्दों का क्षेत्र विकल्पात्मक ज्ञान के क्षेत्र तक सीमित है । विज्ञानवाद में इस दृष्टि का विकास हुआ । दूसरी ओर सौत्रान्तिकों ने नाना अभिधर्म-स्वीकृत धर्मों को प्रज्ञप्तिमात्र अथवा अभावमात्र घोषित किया । माध्यमिकों ने शब्दों का द्वैधीकरण व्यापार सुस्पष्ट किया । इन सभी सूत्रों को बटोरते हुए विज्ञानवाद के अभ्यन्तर दिङ्नाग ने **प्रमाणसमुच्चय** में अपोह के सिद्धान्त को पहले पहल प्रतिपादित किया । धर्मकीर्ति ने **प्रमाणवार्तिक** में उसका विस्तार किया । शान्तरक्षित ने उद्योतकर और कुमारिल के आक्षेपों को ध्यान में रखते हुए **अपोहवाद** का **तत्वसंग्रह** में पुनः प्रतिपादन किया । इसके पश्चात् वाचस्पतिमिश्र ने अपोह का खण्डन **तात्पर्यटीका** में किया । ज्ञानश्रीमित्र और रत्नकीर्ति ने इन आक्षेपों का उत्तर देते हुए अपोहवाद को अन्तिम रूप प्रदान किया ।

पारिभाषिक शब्द

अपोह	अलग करना, सदृश वस्तुओं के समूह से विसदृश वस्तु का पृथक् व्यवस्थापन ।
अर्थ	शब्द–गोचर पदार्थ जिसका 'वस्तु' से विभेद करना चाहिए ।
अध्यवसाय	बुद्धि द्वारा 'यह नील है' इत्यादि प्रकार का निर्णय अथवा व्यवस्थापन ।
उपाधि	अतात्विक विशेषण ।
असिद्ध	हेत्वाभास–विशेष=जहां हेतु पक्ष में सिद्ध नहीं होता ।
अनैकान्तिक	हेत्वाभास–विशेष=जहां हेतु सपक्ष और विपक्ष में अनियतरूप से मिलता हो ।
कल्पना	नाम–जात्यादि की योजना, शब्द–संयुक्त ज्ञान । शब्द और कल्पना एक दूसरे को जन्म देते हैं ।
ग्रहण	इन्द्रियों द्वारा विषय को पकड़ना, जिससे उनका प्रत्यक्ष होता है ।
जाति	सदृश प्रतीति का हेतु अनेक–समवेत नित्य पदार्थ ।
दृश्य	प्रत्यक्ष के योग्य ।
धर्म	अपना लक्षण रखनेवाली निस्सत्व–निर्जीव वस्तु । ऐसी वस्तु जिसका अपना स्वभाव हो ।
निषेध	नकारना, जो दो प्रकार का होता है, प्रसज्य–प्रतिषेध और पर्युदास ।
निर्वृत्ति	अभाव ।
पिण्ड	देह, स्थूल व्यष्टि पदार्थ (=body)
पर्युदास	ऐसा निषेध जिसमें विधि ही मुख्य हो जैसे 'वह अब्राह्मण है' ।
प्रत्यय	प्रतीति, अवधारणा ।
प्रसज्य–रूपाभाव	ऐसा निषेध जिसमें निषेध ही मुख्य हो, जैसे 'यहां घड़ा नहीं है' ।
प्रतिभास	इन्द्रिय–संवेदनात्मक प्रतीति ।
प्रत्यासत्ति	निकटता, अभिसम्बन्ध ।

बाधित	जहां विरुद्ध हेतु प्रबल हो ।
बुद्ध्याकार	बुद्धि द्वारा निर्मित आकृति, ज्ञान–विशेष की अपनी आकृति
विधि	भावात्मक ःपॉजिटिवः
व्यावृत्ति	पूरा अलग होना, वैसदृश्य ।
विरुद्ध	हेत्वाभास–विशेष, जो हेतु विपक्ष में नियम से मिलता हो ।
विकल्प	द्र0 कल्पना ।
विशिष्ट	विशेषण–युक्त, विशेषित ।
व्यक्ति	जाति का प्रतियोगी ।
सामान्य	समान प्रत्यय का हेतु ।
सामान्य–विशेष	ऐसा सामान्य जो अपने विशेषों की तुलना में सामान्य हो और अधिक व्यापक सामान्यों की तुलना में विशेष ।
सामर्थ्य	वाक्य का अर्थ–बल ।
स्वलक्षण	स्वभाव, क्षणिक वस्तु ।
स्वसंवेदन	ज्ञान का आत्म–प्रत्यक्ष ।
वस्तु	अकल्पित, क्रिया–समर्थ, सत्य पदार्थ ।
संवृति	व्यवहार, अपारमार्थिक कल्पना ।

अपोहसिद्धि

शब्द के अर्थ अपोह की व्याख्या की जाती है[1]

पूर्व पक्ष — **बौद्ध–विरोधी नैयायिक, मीमांसक आदि के द्वारा उपस्थापित :**

'अपोह' के तीन अर्थ हो सकते हैं—अन्य–व्यावृत्त अथवा, बाह्य वस्तु या, मानसिक आकार, अथवा अन्य व्यावृत्ति– मात्र । इनमें पहले दो भावात्मक अर्थ हैं, तीसरा प्रतीति विरुद्ध है ।

'अपोह' क्या है ? क्या 'दूसरे से अपोहित किया जाता है, इससे दूसरा अपोहित किया जाता है, इसमें दूसरा अपोहित किया जाता है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विजातीय पदार्थों से पृथक्कृत बाह्य वस्तु ही अपोह शब्द से विवक्षित है, अथवा बुद्ध्याकार (ज्ञानाकृति) विवक्षित है, अथवा 'अपोहन या पृथक्करण ही अपोह है', यह मानकर अन्य वस्तु की व्यावृत्ति या निषेध ही विवक्षित है । यही तीन पक्ष सम्भव हैं[2] ।

क्योंकि शब्द से वोध्य अर्थ भावरूप होता है; अभाव रूप नहीं और न

इनमें पहले दो पक्ष ठीक नहीं हैं, क्योंकि इनमें अपोह के नाम से विधि या भाव–रूप वस्तु ही विवक्षित होती है । अन्तिम पक्ष भी असंगत है, क्योंकि वह प्रतीति से बाधित है । उदाहरण के लिए, 'पर्वत–प्रदेश में अग्नि है'– इन शब्दों से उत्पन्न प्रतीति विधि–रूप अर्थ को ही प्रकट करती हुई लक्षित होती है, न किं 'अनग्नि नहीं है' इस प्रकार अभाव मात्र को सम्मुख करती हुई । और, 'जो प्रत्यक्ष–बाधित है, उसमें अन्य साधन का अवकाश नहीं होता'[3], यह अति प्रसिद्ध है ।

अन्य–व्यावृत्त विषय के बोध को व्यावृत्ति का बोध कहा जा सकता है ।

बौद्धों की ओर से : यह शंका की जा सकती है । यद्यपि 'मुझे निवृत्ति : अन्य का अभाव : प्रतीत हो रही है', इस प्रकार से मन में विचार नहीं उठता, तथापि निवृत्त : निवृत्तियुक्त : पदार्थ का ज्ञान ही अभाव का ज्ञान है क्योंकि 'विशेषण की प्रतीति को अपने अन्दर लिए बिना विशिष्ट की प्रतीति नहीं होती'[3] । इसलिए जैसे 'मुझे सामान्य प्रतीत हो रहा है' इस प्रकार के विचार के न उठने पर भी और लोग : बौद्धेतर दार्शनिक : समान–आकार के भासने के कारण विकल्प–ज्ञान को सामान्य–ज्ञान मानते हैं, ऐसे ही अन्य–निवृत्त विषय की प्रतीति से उपस्थापित अभाव ज्ञान ही अपोह की प्रतीति के व्यवहार को प्रस्तुत करता है ।

किन्तु समान–आकृति के भासने पर यदि सामान्य के ज्ञान को विधिरूप ठहराया जाता है तो अभावात्मक आकृति के मन में भासने के बिना व्यावृत्त विषय की प्रतीति अभाव की प्रतीति कैसे ठहरायी जायगी ? इसलिए 'मुझे अभाव की प्रतीति हो रही है' इस प्रकार के ज्ञान के अभाव में यदि अभावात्मक आकृति का स्फुरण हो, तब तो अभाव की प्रतीति की सत्ता को भला कौन अस्वीकार कर सकता है, अन्यथा, यदि वस्तु के प्रतिभासित न होने पर भी उसके निश्चय का व्यवहार हो सकता है तो मन के सामने गाय की आकृति होने पर भी घोड़े का ज्ञान हो सकेगा ।

यदि कहा जाय कि 'अभाव की प्रतीति विंशेषण के रूप में अन्तर्गत होती है, तो भी यदि इस प्रकार

का विकल्प होता हो कि 'यह (गो–व्यक्ति) गो–व्यतिरिक्त अन्य अर्थों से अलग किया हुआ है' तो विशेषण के रूप में अभाव का अनुप्रवेश भले ही हो, किन्तु वस्तुतः प्रतीति इस तरह होती है कि 'यह गाय है' । इस प्रकार विद्यमान होते हुए भी अभावरूपीं विशेषण वहां प्रकट नहीं होता । तो फिर उसकी प्रतीति कैसे ठहराई जाएगी ? यदि ऐसा माना जाय कि जो कुछ भी विधि रूप में स्फुरित होता है उसका अन्य से अपोह : व्यावर्तन भी होता है और इसीलिए उसकी प्रतीति कही जाती है, तो भी अपोह का केवल सम्बन्ध होता है जबकि विधि ही साक्षात् भासती है और फिर इस तरह तो अपोह को प्रत्यक्ष का विषय बनने से भी न रोका जा सकेगा क्योंकि एक विशिष्ट व्यावृत्ति से युक्त अर्थ को बतलाने वाले विकल्प की तुलना में प्रत्यक्ष निःशेष अन्य की व्यावृत्ति से युक्त वस्तु को प्रस्तुत करता है । इसलिए विधिरूप आकार के ग्रहण के कारण प्रत्यक्ष के समान विकल्प का विषय भी विधि ही होता है, अन्य का अपोह नहीं । तो फिर अपोह को शब्द का अर्थ क्यों घोषित किया जाता है[4] ।

अन्यथा प्रत्यक्ष का विषय भी अपोह ठहर जायगा ।

उत्तर पक्ष

अपोह= अन्यापोह–विशिष्ट विधि । क्योकि प्रत्यक्ष–प्रवृत्ति अन्य परिहार–पूर्वक होती है ।

इस पर कहा जाता है—'अपोह' शब्द से हमारा अभिप्राय केवल विधि नहीं है और न केवल अन्य की व्यावृत्ति ही है । किन्तु अन्य के अपोह से युक्त विधि ही शब्दों का अर्थ है । इसलिए दोनों अलग–अलग पक्षों पर लागू होने वाले दोष निरवकाश हो जाते हैं

विधि–वादी जो यह मानते हैं कि गाय की प्रतीति होने पर उसके अनन्तर गाय के स्वभाव के दूसरे के स्वभाव से भिन्न होने के कारण सामर्थ्य से अपोह–निश्चित किया जाता है, और जो प्रतिषेधवादियों का मत है कि अन्य से अपोह की प्रतीति होने पर सामर्थ्य से अन्यापोढ़ : अन्य–व्यावृत्त : अर्थ अवधारित होता है, यह दोनों ही मत सुहाते नहीं हैं । पहले मत में अभ्युपगत ज्ञान का क्रम वैसा देखने में नहीं आता है क्योंकि पहले विधि रूप अर्थ को समझकर उसके पश्चात् कोई भी अर्थापत्ति से अपोह को नहीं समझता है और न पहले अपोह को समझकर कोई अपोहयुक्त पदार्थ को समझता है[5] । इसलिए 'गाय' शब्द से अर्थ का बोध वास्तव में अन्य–व्यावृत्त अर्थ का बोध कहा जाता है । यद्यपि अन्य–व्यावृत्ति का शब्दतः उल्लेख नहीं होता तथापि विशेषणभूत अन्यापोह का अबोध नहीं होता, क्योंकि 'गाय' शब्द अ–गो–निवृत्त अर्थ में ही प्रयुक्त होता है । जैसे 'इन्दीवर' शब्द नीलोत्पल का वाचक होने के कारण उससे नीलोत्पल की प्रतीति होने पर नीलिमा का स्फुरण अनिवार्य है, वैसे ही 'गाय' शब्द से भी, जोकि अ–गो–निवृत्त रूप में निवेशित है, गाय की प्रतीति होने के समय ही उसके विशेषक होने के कारण अ–गो–निवृत्ति का भासना अनिवार्य है । जैसे प्रत्यक्ष के द्वारा रूप के अभाव का साक्षात् और प्रधानतया ग्रहण : प्रत्यक्ष की : अभाव–विकल्प के उत्पादन की शक्ति ही है, वैसे ही विधि–

विकल्पों में भी उसके : अध्यवसेय के : अनुरूप व्यवहार के प्रवर्तन की शक्ति ही उनका अभाव–ग्रहण कहलाता है । पर्युदास–रूप अभाव का : साक्षात् किन्तु अप्रधानतया अभाव का : ग्रहण, जोकि : प्रधानतया : नियत स्वरूप का संवदेन है, दोनों में ही, अर्थात् प्रत्यक्ष और विकल्प में, समान हैं[6] । अन्यथा यदि शब्द से अर्थ समझने के समय अन्यापोह न समझा जाएगा तो अन्य–परिहार–पूर्वक प्रवृत्ति कैसे होगी ? तब 'गाय बांधो' इस तरह से प्रेरित करने पर कोई घोड़े आदि को भी बांध सकता है ।

जाति भी प्रवृत्ति–गत परिहार का पर्याप्त कारण नहीं हो सकती, क्योंकि उसके लिए जातियों को भी परस्पर विभक्त होना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में व्यक्तियों को ही विभक्त मानने से लाघव होगा ।

वाचस्पति ने कहा है कि व्यक्ति जातियुक्त होते हैं, वे ही विकल्प और शब्द के विषय हैं[6क] । उनका रूप विजातीय रूप से विभक्त है, इस बात के अर्थतः समझ जाने के कारण 'गाय बांधो' इस पर कोई घोड़ा आदि नहीं बांधता है । यह मत भी उसी तर्क से खण्डित होता है, क्योंकि जाति के और अधिक डालने पर भी यदि व्यक्तियों का रूप विजातीय रूप से पृथक् ठहरता है तो उसी रूप से शब्द और विकल्प के विषय बनते हुए उन व्यक्तियों में अन्य–व्यावृत्ति अपरिहार्य रहेगी । और यदि व्यक्ति का रूप विजातीय रूप से व्यावृत्त नहीं प्रतीत होता तो फिर केवल जाति की कृपा मानने से ही अर्थतः भी उस व्यावृत्ति का ज्ञान कैसे होगा ?

कोई कह सकता है कि जाति के बल से अन्यतः व्यावृत्ति होती है । जाति के बल से

हो अथवा अपनी हेतु--परम्परा के कारण हो, दोनों ही अवस्थाओं में व्यावृत्त अर्थ के बोध में व्यावृत्ति का बोध निहित रहता ही है ।

विधि और अपोह में अन्योन्याश्रय नहीं, क्योंकि वह पक्षान्तर में लागू होगा ।

यह भी शंका नहीं करनी चाहिए कि अ–गो–निवृत्त अर्थ में 'गो' शब्द का संकेत मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा क्योंकि सामान्य में अथवा सामान्ययुक्त अर्थ में संकेत मानने पर भी वही दोष आ पड़ेगा । सामान्य से केवल सामान्य–मात्र का अभिप्राय नहीं होता क्योंकि तब तो घोड़े में भी 'गो' शब्द के संकेत का प्रसंग उत्पन्न हो जायगा । किन्तु सामान्य शब्द का अर्थ 'गोत्व' (आदि सामान्य–विशेष) होता है और इस पर वही दोष उत्पन्न हो जाता है । गाय के न जानने पर गोत्व रूपी सामान्य का ज्ञान नहीं होता और गोत्व–सामान्य के न जानने पर 'गो' शब्द का वाच्य नहीं जाना जाता । इसलिए एक पिण्ड के दीखने के साथ जो यह सब व्यक्तियों में समान सी बुद्धि–विकल्पित आकृति बाहर आरोपित होती है उसी में 'यह गाय है' इस प्रकार का संकेत करने में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता । अभिमत अर्थ मे 'गो' शब्द का प्रयोग होने पर 'अ–गो' शब्द से शेष का अभिधान उचित है । और न अन्य–व्यावृत्त और अन्य–व्यावृत्ति में कोई विरोध है और न उनके विशेष्य–बिशेषण सम्बन्ध की क्षति होती है, क्योंकि वे परस्पर विभक्त नहीं है और एक ही अधिकरण में रहते हैं, जैसे भूतल और घटाभाव । यह सभी जानते हैं कि 'विरोध अपने अभाव से होता है, न कि दूसरे के अभाव से' ।

शब्द अन्य-व्यावृत्ति प्रकट करते हैं ।

'यह पथ श्रुघ्न तक जाता है' इस वाक्य में भी अपोह सूचित होता ही है । 'अप्रासंगिक मार्गों की तुलना में यही जाता है,' 'श्रुघ्न के उलटे अनभीष्ट स्थानों की तुलना में श्रुघ्न को ही, जंगली पगडंडियों के समान विच्छिन्न हुए बिना, पहुँचता ही है,' 'सार्थवाह आदि के : मार्ग से : पृथक् यह पथ ही है' इस प्रकार वाक्य के प्रत्येक पद के अर्थ में अन्य-व्यावृत्ति सुलभ होती है । इसलिए शब्द से अपोह-विशिष्ट विधि रूप की अवगति होती है, जैसे 'पुण्डरीक' शब्द से श्वेतिमा से विशिष्ट पद्म की ।

यह शंका हो सकती है कि यदि ऐसा है तो विधि को ही शब्द का अर्थ कहना ठीक होगा, अपोह को क्यों कहा जाता है ? इसके उत्तर में यह स्मरण रखना चाहिए कि अपोह शब्द से अन्यापोह-विशिष्ट विधि ही कही जाती है । विधि के प्रतीत होने के समय ही उसके विशेषण के रूप में अन्यापोह की प्रतीति होती है ।

प्रत्यक्ष का विषय वास्तविक और स्वलक्षण, शब्द का विषय अध्यवसेय ।

इस तरह प्रत्यक्ष का विषय भी अपोह हो, यह ठहराना ठीक नहीं है । क्योंकि शब्द-जन्य प्रतीति के समान प्रत्यक्ष के संबंध में यह विवाद नहीं है कि उसका विषय वास्तविक होता है अथवा नहीं । 'विधि' शब्द से अध्यवसाय के अनुकूल एवं अन्य-रूप से पृथक्कृत बाह्य अर्थ और प्रतिभास के अनुकूल ज्ञानाकृति अभिमत है । इनमें बाह्य अर्थ

अध्यवसाय के द्वारा ही शब्द-वाच्य ठहराया जाता है, स्वलक्षण के प्रकट होने के कारण नहीं, क्योंकि शाब्द-बोध में प्रत्यक्ष के समान देश, काल और अवस्था में नियत और स्पष्ट स्वलक्षण की स्फूर्ति नहीं होती । जैसाकि शास्त्र में कहा गया है 'इन्द्रिय-व्यापार के बिना शब्द से विषय का बुद्धि में वैसा प्रतिभास नहीं होता जैसाकि प्रत्यक्ष में होता है ।'

ऐन्द्रिय और शाब्द विषय भिन्न हैं क्योंकि प्रतिभास भेद वस्तु-भेद सूचित करता है ।

यह शंका हो सकती है कि इन्द्रियों और शब्द के भिन्न स्वभाव के कारण साधन-भेद से एक ही अर्थ में भिन्न प्रतिभास होता हो । इस पर भी कहा गया है-"नाम का सहारा लेकर भिन्न हुए ज्ञान की विषयभूत वस्तु ठीक वही कैसे हो सकती है ? क्योंकि एक वस्तु का आभास विभिन्न आकृतियों में कैसे हो सकता है[7] ?" क्योंकि एक ही वस्तु के परस्पर विरुद्ध स्पष्ट और अस्पष्ट दो रूप नहीं हो सकते जिससे कि वह एक रूप से इन्द्रिय-ज्ञान में प्रतिभासित हो और दूसरे से विकल्प-ज्ञान हो । वैसा यदि हो सके तब तो वस्तु ही भिन्न हो जायगी, क्योंकि स्वरूप-भेद से अलग कोई वस्तु-भेद नहीं होता और न प्रतिभास-भेद से अलग स्वरूप-भेद होता है । अन्यथा, 'त्रिलोकी' एक ही वस्तु बन जाएगी ।

अनियत प्रतिभास भ्रान्ति-मूलक होता है ।

यह शंका हो सकती है कि दूर और पास वाले व्यक्तियों को एक ही पेड़ में भिन्न-भिन्न स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभास होते हैं किन्तु

पेड़ अलग नहीं होता । : उत्तर : हम यह नही कहते हैं कि प्रतिभास-भेद तभी होता है जब वस्तु-भेद होता है, किन्तु यह निश्चित है कि विषय के एक न होने पर प्रतिभास-भेद होता ही है । इसलिए भिन्न अर्थक्रिया आदि से युक्त प्रतिभास-भेद होने पर वस्तु-भेद होता है, जैसेकि घट-:पटः में । अन्यत्र प्रतिभास का विषय नियम से वही नहीं होता, इसलिए वह प्रतिभास भ्रान्त होता है ।

वस्तु के वाच्य होने पर विधि-निषेध में पुनरुक्ति अथवा असंगति होती, जबकि शब्द का वाच्य भावाभाव-साधारण है ।

वाचस्पति ने कहा है-वस्तुविषयक होने पर भी शब्द और प्रत्यक्ष की प्रतीतियाँ अभिन्न नहीं होती हैं, क्योंकि कारण-भेद से उनमें परोक्षता और अपरोक्षता की उपपत्ति होती है । इस युक्ति से कुछ लाभ नहीं होगा, क्योंकि यह समर्थित नहीं होता कि परोक्ष-प्रतीति का विषय वास्तविक है । परोक्षता का आश्रय कारण-भेद तो इन्द्रिय-विषय के अग्रहण से ही कृतार्थ हो जाता है । इसलिए शब्द-जन्य प्रतीति में स्वलक्षण परिस्फुरित नहीं होता है । किंच, स्वलक्षणात्मक वस्तु के वाच्य होने पर उसका सर्वात्मना बोध होता जिससे विधि और निषेध का अवकाश न रहता । उसके होने पर 'है' यह व्यर्थ होता और 'नहीं हैं' यह असमर्थ होता, न होने पर 'नहीं है' यह व्यर्थ और 'है' यह असमर्थ होता । किन्तु 'है' इत्यादि पदों का प्रयोग होता ही है । इसलिए शब्द-प्रतिभास बाह्य अर्थ के अस्तित्व और नास्तित्व में समान रहता है और इसलिए उसका विषय बाह्य अर्थ नहीं हो सकता[8] ।

वाचस्पति की युक्तिः भावाभाव साधारण्य का हेतुः—जाति का व्यक्तियों से उभयथा संबंध

वाचस्पति ने जातिमती व्यक्ति को शब्द–वाच्य बतला कर उसके अनन्तर–ही कहा है कि शब्द के अर्थ जाति की भाव और अभाव में समानरूपता अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि वह अपने स्वरूप से नित्य होते हुए भी देश और काल में बिखरे हुए अनेक व्यक्तिंयों के सहारे भाव और अभाव में समान होते हुए 'है' और 'नहीं' से सम्बन्ध रखने के योग्य है । वर्तमान व्यक्ति से सम्बन्ध रखना ही जाति का होना है, अतीत और अनागत व्यक्तियों से संबंध रखना ही जाति का न होना है ।

साधारण्य के अभाव में, यथा प्रत्यक्ष में, जाति–व्यक्ति–सम्बन्ध बौद्ध के द्वारा अस्वीकृत भी नैयायिक के द्वारा स्वीकृत होने से संदिग्ध हो जाता है ।

इस युक्ति में व्यतिरेक के संदिग्ध होने के कारण 'होने और न होने का समान होना अनैकान्तिक हैं अथवा अन्यथा सिद्ध है । न इससे : वाचस्पति की युक्ति से : प्रस्तुत प्रसंग में कुछ क्षति होती है । जाति पर भार डालने से स्वलक्षण की अवाच्यता स्वयं स्वीकृत हो जाती है । किंच, पदार्थ का अस्तित्व आदि सर्वत्र स्वलक्षण–स्वरूप से ही विचारा जाता है । यह कहना तो बच्चों को ठगना है कि जाति का वर्तमान व्यक्ति से सम्बन्ध उसका अस्तित्व आदि है । यही दोष 'जाति–युक्त व्यक्ति' के कहने पर भी उत्पन्न होता है । यदि व्यक्ति की प्रतीति होती है तो जाति अधिक प्रतीत हो अथवा न हो, व्यक्ति की प्रतीति के दोष से छुटकारा नहीं होता ।

मीमांसक भाव और अभाव वस्तुगत, नकि जातिगत ।

कुमारिल के अनुयायियों का कहना है[8क] कि वस्तु के विभागयुक्त होने के कारण, उसके भाव और अभाव में समान होने का दोष

नहीं होता, क्योंकि शब्द से जो वृक्षत्व अवगत होता है उसमें भाव एवं अभाव निर्धारित नहीं होते हैं । उन : भाव और अभाव : में किसी एक के साथ वस्तु का सम्बन्ध शब्दान्तर से अवगत होता है ।

किन्तु नित्यता को भावात्मक होना चाहिये ।

यह कहना भी असंगत है, क्योंकि नित्य-सामान्य के अवबोध होने पर उसमें भाव अथवा अभाव का निर्धारित न होना युक्त नहीं है ।

प्रमाण-वैचित्र्य और वस्तु-वैचित्र्य का संबंध : सम्प्लव और व्यवस्था :

यह भी कहा गया है कि शब्दों का अर्थ-सम्प्रेषण का ढंग प्रत्यक्ष से विलक्षण है जिससे उसमें 'है' आदि शब्दों की अपेक्षा, प्रत्यक्ष के विपरीत, बनी रहती है क्योंकि सभी प्रमाणों की अपनी निराली शक्ति होती है । इस बात का इससे खण्डन हो जाता है कि यदि ऐन्द्रिय प्रतिभास और शाब्द प्रतिभास का ग्राह्य विषय एक ही हो तो उनके आभासों में भेद न होना चाहिए । रहा प्रमाणों का शक्ति-वैचित्र्य, वह अन्यथा भी चरितार्थ हो जाता है, क्योंकि एक से साक्षात्कार होता है, दूसरे से अध्यवसाय । इसलिए यदि शब्द से प्रत्यक्ष अर्थ का प्रतिपादन हो तो वैसा ही अवभास होगा । वैसा : अवभास : न होने पर उसके विषय को : शब्द : नहीं बतला सकेगा ।

प्रत्यक्ष-विषय निरंश

यह शंका हो सकती है कि जहां 'वृक्ष' शब्द वृक्षत्व रूपी अंश में प्रेरित करता है, 'है' आदि पदों का प्रयोग 'अस्तित्व' आदि अंश के निश्चित करने के लिए हो सकता है ।

: उत्तर : प्रत्यक्ष से अधिगत स्वलक्षण के निरंश होने के कारण उसमें पदान्तर का अवकाश नहीं है और न किसी अन्य प्रमाण के द्वारा धर्मान्तर के विधि-निषेध का अवकाश है ।

यदि यह कहा जाए :-प्रत्यक्ष में भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा देखी जाती है । : उत्तर :- यह अनभ्यस्त दशा में प्रत्यक्ष के अनिश्चयात्मक होने के कारण हो सकता है, किन्तु जहां निश्चयात्मक विकल्प स्वयं वस्तु का ग्राहक हो, वहां दूसरे प्रमाण से क्या होगा ? किन्तु तो भी अन्य शब्द और हेतु की अपेक्षा देखी जाती है । इससे सिद्ध होता है कि शब्द के द्वारा वस्तु के स्वरूप का ग्रहण नहीं होता[9] ।

शब्द धर्मी से भिन्न-धर्म विशेष का वाचक

यह शंका हो सकती है—जाति आदि धर्म और धर्मी परस्पर भिन्न हैं, जातिरूप एक धर्म के द्वारा वृक्ष के ज्ञात होने पर भी अन्य धर्म से युक्त रूप में वह ज्ञात नहीं होता, इसलिए नीला, हिलता हुआ, ऊंचा इत्यादि अन्य धर्म का बोध क्या शब्दान्तर के अधीन न होगा ?

धर्म धर्मी-भेद काल्पनिक

यह असंगत है क्योंकि प्रत्यक्ष में अखण्डात्मक स्वलक्षण का प्रतिभास होता है । दृश्यरूप में धर्म और धर्मी का भेद प्रत्यक्ष में तिरस्कृत है, अन्यथा सब कुछ सर्वत्र होना अतिप्रसक्त होगा । यह शास्त्र में सिद्ध किया जा चुका है कि धर्म और धर्मी का व्यवहार काल्पनिक भेद पर आश्रित है ।

यदि धर्म और धर्मी के भेद को पारमार्थिक भी माना जाए तो भी समवाय आदि के खण्डित होने के कारण उनमें प्रत्यासत्ति : निकटता, सम्बन्ध : उपकार-रूप ही खोजनी चाहिए । इस प्रकार जैसे इन्द्रिय-प्रत्यासत्ति से प्रत्यक्ष के द्वारा धर्मी के बोध होने पर उसके सब धर्मों का बोध होता है, ऐसे ही वाच्य-वाचक आदि सम्बन्ध में प्रतिबद्ध शब्द और हेतु के द्वारा धर्मी के बोध होने पर उसके अशेष धर्मों का बोध हो जाएगा, क्योंकि प्रत्यासत्ति मात्र समान है ।

उपाधि-विशिष्ट का ग्रहण

वाचस्पति का कहना है—एक उपाधि से विशिष्ट सत्व के ग्रहण होने पर अन्य उपाधि से विशिष्ट उसका ग्रहण नहीं हो जाता । क्योंकि द्रव्य का स्वभाव उपाधियों से विशेषित होता है किन्तु उपाधियां अथवा विशेषता उसका स्वभाव नहीं होते ।

धर्मी के ग्रहण होने पर सभी धर्मों का ग्रहण अनिवार्य हो जायेगा, केवल उपाधि-विशिष्ट का कैसे ग्रहण होगा ?

यह भी नहीं ठहरता है । क्योंकि अन्य उपाधि का ग्रहण : उपाधि एवं उपाधेय के : अभेद के कारण आसंजित नहीं है, बल्कि उनके भेद को सामने करके ही उपकारक के ग्रहण होने पर उपकार्य का ग्रहण प्रसक्त होता है । और न यह उचित है कि अग्नि और धूम के कार्य- कारण-संबंध के समान स्वभाव से ही धर्म और धर्मी के प्रतिविशिष्ट नियम की कल्पना की जाय । क्योंकि वे भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हैं । यह नियम है—'कि प्रमाण-सिद्ध होने पर ही स्वभाव का उप-वर्णन होता है[9] ।'

न्याय-भूषण ने यहां आपत्ति की है कि ऐसा मानने पर सूर्य आदि के गृहीत होने पर उनकी उपकार्य अशेष-वस्तु-राशि का ग्रहण प्रसक्त हो जाएगा[१क] ।

उपकार्योपकारक संबंध से धर्म और धर्मी में ज्ञाप्य- ज्ञापक-भाव तभी संगत होता है जब धर्म समानदेशीय और नियत हो ।

: उत्तर : यह अभिप्राय न समझने का परिणाम है । तुम्हारे मत में धर्म और धर्मी का भेद है और उनमें उपकार-रूप संबंध है । ऐसा मानने पर उपकारक ग्रहण होने पर उस उपकार्य का ग्रहण प्रसक्त होता है जो धर्म रूप हो और समानदेशीय हो । तो फिर सूर्य के उपकार्य भिन्न-देशस्थ उन अन्य द्रव्यों का ग्रहण कैसे प्रसक्त होगा जिनका व्यभिचार दृष्ट है ? इसलिए एक धर्म के द्वारा भी यदि वस्तु के स्वरूप का बोध होता है तो वस्तु का सर्वात्मना बोध प्रसक्त होगा और तब शब्दान्तर से विधि-निषेध का अवकाश न रहेगा । किन्तु यह अवकाश तो रहता ही है, इसलिए यह सिद्ध है कि शब्द-विकल्प अथवा हेतु के द्वारा स्वलक्षण का प्रतिभास नहीं होता है ।

सामान्य की प्रतीति अ-वस्तु विषयक

और न शब्द-जन्य प्रतीति में सामान्य का प्रतिभास होता है । 'नदी के पार गायें चरती हैं,' यहाँ 'गाय' शब्द से अक्षरों के आकार से बंधे हुए, सजातीय भेद को छोड़े हुए, एक साथ सम्पिण्ड़ित-से 'सींग-पूंछ' आदि प्रतिभासित होते हैं । इसी का नाम सामान्य नहीं है, क्योंकि 'गोत्व को वर्ण, आकृति और अक्षराकार से शून्य कहा जाता है' : प्रमाणवार्तिक ३, १४७ : । वे ही सींग-

पूंछ आदि, जो वस्तुतः सब व्यक्तियों में नितान्त विभिन्न हैं, स्वलक्षण से अभिन्न माने जाते हुए सामान्य कहलाते हैं । क्योंकि ऐसी बाह्य वस्तु उपलब्ध नहीं होती, इसलिए वह केश-प्रतीति के समान भ्रान्तिमात्र है । वह ः सामान्य ः वासना के कारण बुद्धि का तदात्मक विवर्त हो सकता है, अथवा असद्रूप की प्रतीति हो सकती है, अथवा अनुभव के व्यवधान से सजातीय भेद तिरस्कृत कर अनेक व्यक्ति ही अन्यथा प्रतीत हो सकते हैं, अथवा उसे स्मृति-लोप कहना चाहिये, सर्वथा ही यह सामान्य-प्रत्यय विषय-रहित है । सामान्य की बात ही कहां है ?

किन्तु अकारण नहीं

जो यह कहा गया है कि सामान्य के अभाव में सामान्य की प्रतीति अकारण हो जायगी, वह अयुक्त है । क्योंकि पूर्व पिण्ड के दर्शन और स्मरण से सहकृत सामग्री अतिरिक्त साधारण प्रतीति की जनक होकर विषय-रहित ही सामान्य विकल्प को उत्पन्न करती है । इस प्रकार शाब्द-प्रत्यय में जाति का प्रतिभास नहीं होता है और न प्रत्यक्ष में । और न अनुमान से ही उसकी सिद्धि होती है, क्योंकि अदृश्य होने के कारण उसमें हेतु-प्रतिबन्ध नहीं देखा जाता है । और न जाति की सिद्धि इन्द्रिय के समान हो सकती है, क्योंकि ज्ञान रूपी कार्य से जिस निमित्तान्तर की सिद्धि होती है वह अनित्य ही होता है । जब भी ःगायों से ः अन्य पिण्डों में अथवा ः पिण्डों के ः अन्तराल में ः कोई ः गो-बुद्धि का अभाव दिखलाए तब

सभी चितकबरे आदि गो–पिण्डों के ही अभाव से गो–बुद्धि का अभाव ही उपपन्न होता हुआ कैसे : जातिरूप : अर्थान्तर का आक्षेप करेगा[10] ?

गोत्व का आधार गोपिण्ड और गोपिण्ड का कारण–परम्परा

यदि यह कहा जाय कि गोत्व होने से ही गो–पिण्ड सिद्ध होता है अन्यथा घोड़ा भी गो–पिण्ड हो सकेगा । यदि ऐसा है तो यह भी कहा जा सकता है कि गो–पिण्ड के होने से ही गोत्व होता है, अन्यथा अश्वत्व भी गोत्व हो सकेगा । इसलिए कारण–परम्परा से ही गो–पिण्ड सिद्ध होता है, गोत्व हो या न हो ।

यह शंका हो सकती है कि यदि सामान्य की प्रतीति को उत्पन्न करने की शक्ति एक पिण्ड से अभिन्न है, तो विजातीय–व्यावृत्त अन्य पिण्ड अशक्त हो जाएँगे । और यदि भिन्न हैं, तो वही सामान्य है, केवल नाम ही में तब विवाद रहेगा ।

जातियाँ पृथक् होती हुई भी जाति रूपी एक नाम से पुकारी जाती हैं, यही स्थिति व्यक्तियों के लिए कल्पनीय है ।

: उत्तर : वह शक्ति प्रत्येक वस्तु में अभिन्न ही है, किन्तु जैसे एक भाव शक्त–स्वभाव है वैसा ही दूसरा भी हो, तब उसमें क्या दोष होगा ? जैसे आपके लिए जाति एक होते हुए समान शब्द की उत्पत्ति का हेतु होती है और अन्य होते हुए भी स्वरूपतः अन्य जाति की अपेक्षा नहीं करती, ऐसे ही हमारे लिए व्यक्ति भी जाति–निरपेक्ष होकर स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी : समान नाम का : हेतु होता है[11] ।

जाद्वियों में यदि स्वाश्रय समवेतता को समान देखा जाए तो वही व्यक्तियों में देखा जा सकता है, पर समवाय ही असिद्ध है ।

त्रिलोचन[12] का कहना है कि अश्वत्व और गोत्व आदि सामान्य–विशेषों : वे सामान्य जो विशेष भी हैं : का अपने आश्रय में समवेत होना ही : उनका : सामान्य है और सामान्य ही समान नाम और प्रतीति का निमित्त है । यदि ऐसा है तो व्यक्तियों में भी वही : समवाय : नाम और प्रतीति का हेतु हो जाय । सामान्य को स्वीकार करने के प्रमाद से क्या लाभ ? पर समवाय ही संभव नहीं है । "यहां है' इस ज्ञान से समवाय की सिद्धि मानी जाती है । 'यहां है' यह ज्ञान दो के दीखने पर हो सकता है । किन्तु उस : ज्ञान : के विषय में कहीं भी उसकी : दो की : अपेक्षा नहीं होती । इसलिए यह उपाय केवल अपनी कल्पना मात्र है[13] ।"

पृथक् व्यक्तियों में अन्विति का प्रश्न वैसा ही है जैसा पृथक् जातियों में ।

अत्यन्त विभिन्न व्यक्तियों में, जोकि व्यावृत्ति–विषयक प्रतीतियों का अनुगमन करते हैं, एक अनुवृत्त वस्तु के अनुगामी प्रत्यय की अनुवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार का तर्क भी खण्डित हो जाता है । क्योंकि व्यक्तिवत् परस्पर–व्यावृत्त जातियों में अनुगत प्रतीति के मिलने से उक्त हेतु का व्यभिचार होता है[14] ।

समान नाम का कारण समान जाति नहीं

यह भी कहा गया है : पूर्वपक्ष : विपर्यय में : जाति को अस्वीकार करने पर : बाधक उपलब्ध होता है : समान नाम की प्रतीति नियम-पूर्वक ही कहीं से निवृत्त और कहीं प्रयुक्त होती है, इसलिए वह सकारण होनी चाहिए, और : जाति के अतिरिक्त : अन्य कारण उपलब्ध नहीं होता ।

जाति की अपेक्षा प्रत्यासत्ति की कल्पना में लाघव

यह युक्ति ठीक नहीं है क्योंकि अनुगत वस्तु के अभाव में भी अन्य वस्तुओं के रूप से पृथक्कृत स्वरूप से लक्षित विशेषता के कारण वस्तुओं में शाब्दिक प्रतीति की अनुवृत्ति अवश्य स्वीकार करनी होगी । इसलिए 'जिस प्रत्यासत्ति से तुल्य-भेद वाले : ही : किसी स्थल में जाति पदार्पण करती है, अन्यत्र नहीं, वही प्रत्यासत्ति शब्द- ज्ञान का आधार बन सकती है[15] ।' प्रमाणवार्तिक (३, १६१-६२) । न्यायभूषणकार ने कहा है—ऐसा नहीं हो सकता । जिस प्रत्यासत्ति से जाति दण्ड, सूत्र आदि में प्रसर्पण करती है, अन्यत्र नहीं, वही प्रत्यासत्ति यदि पुरुष, स्फटिक आदि में दण्डित्व, सूत्रित्व, आदि व्यवहार का आधार हो जाए तो दण्ड, सूत्र आदि व्यर्थ हो जाएंगे ।

यह असंगत है, क्योंकि पुरुष और स्फटिक के प्रत्यासन्न दण्ड और सूत्र का दण्डित्व और सूत्रित्व के प्रत्ययों के हेतु होना प्रतिषिद्ध नहीं होता क्योंकि वे प्रत्यक्ष होते हैं । किन्तु सामान्य तो स्वप्न में भी प्रत्यक्ष नहीं होता । तो यदि कल्पना ही की जानी है तो सामान्य-प्रतीति की हेतु प्रत्यासत्ति की ही

कल्पना की जाए, सामान्य की गुरुतर कल्पना से क्या लाभ होगा ?

अनुमान से विशेषण के रूप में जाति सिद्ध नहीं होती क्योंकि

जाति का प्रसाधक अनुमान इस प्रकार कहा जाता है— विशिष्ट का ज्ञान विशेषण के ज्ञान के बिना नहीं होता है, उदाहरण के लिए दण्डी का ज्ञान :दण्ड के ज्ञान के बिना नहीं होता है: । 'यह गाय है', यह विशिष्ट का ज्ञान है । :इसलिए वह गोत्वरूपी विशेषण के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता । :

विशेष्य–विशेषणभाव में भेद वास्तविक न होकर परिकल्पित है ।

इस अनुमान में अर्थतः कार्य–हेतु प्रयुक्त है । क्योंकि दृष्टान्त में विशिष्ट ज्ञान को विशेषण–ज्ञान के कार्य के रूप में सिद्ध माना गया है । यहाँ पर प्रश्न होता है–विशिष्ट–ज्ञान से भिन्न विशेषण–ज्ञान का अविनाभाव साध्य है, अथवा केवल विशेषण–ज्ञान का अविनाभाव साध्य है[16] ? पहले पक्ष में प्रत्यक्ष बाधा प्रतिज्ञा के लिए हेतु जुटाने के अवकाश को हर लेती है । क्योंकि वस्तुग्राही प्रत्यक्ष में :विशेष्य और उससे भिन्न विशेषण: का उभय–प्रतिभास नहीं होता । और सामान्य–हेतु विशिष्ट–ज्ञान अनैकान्तिक है क्योंकि भिन्न विशेषण के ज्ञान के बिना भी यह उपलब्ध होता है, जैसे 'घट स्वरूपवान् है' अथवा 'गोत्व सामान्य' है, इन उदाहरणों में ।

दूसरे पक्ष में सिद्ध का ही साधन होता है । 'घट स्वरूपवान् है' इत्यादि के समानं 'पिण्ड गोत्व–जातिमान् है' इस उदाहरण में भी

परिकल्पित भेद का सहारा लेकर विशेष्य-विशेषण-भाव इष्ट है और इस कारण 'यह गाय है' यह व्यवहार अ-गो-व्यावृत्ति से विशिष्ट :अर्थात् अ-गो-व्यावृत्ति जिसका विशेषण है ऐसे: अर्थ के अनुभव से उत्पन्न होने वाला है । इसी को सामान्य-ज्ञान नहीं कह सकते । क्योंकि केवल व्यक्ति का ग्राहक स्पष्ट प्रत्यक्ष सामान्य, गुण, कर्म आदि उपाधि-समूह का बाधक है, अथवा प्रसिद्ध दृश्यानुपलब्धि मूलक अनुमान :बाधक है:[17] ।

शब्द से बाह्य अर्थ का सांवृतिक विधि-निषेध होता है ।

तब इस प्रकार विधि ही शब्द का अर्थ है । यह अर्थ बाह्य भी है और बुद्ध्याकार भी, किन्तु बुद्ध्याकार का तात्विक या सांवृतिक विधि-निषेध नहीं होता, क्योंकि वह स्वसंवेदन-रूपी प्रत्यक्ष का विषय होता है एवं अध्यवसाय का विषय नहीं होता । और न बाह्य अर्थ का ही तात्विक विधि या निषेध होता है, क्योंकि शब्द प्रत्यय में उसका प्रतिभास, नहीं होता । इसलिए सब धर्म तत्वतः अनभिलाप्य हैं, क्योंकि प्रतिभास का अध्यवसाय नहीं होता । इसलिए बाह्य अर्थ का ही सांवृत विधि या निषेध होता है, अन्यथा व्यवहार की हानि प्रसक्त होगी[18] ।

इस प्रकार

'न आकार की, न बाह्य अर्थ की तात्विक विधि सिद्ध होती है । बाह्य अर्थ की ही संवृति से विधि होती है, आकृति की संवृति से भी नहीं ।'

इससे धर्मोत्तर का यह कथन खण्डित होता है कि आरोपित बाह्यता के विधि–निषेध होते हैं । यह कथन लोक–विरुद्ध है, आगम–विरुद्ध है और तर्क–विरुद्ध है[19] ।

शब्द–द्वारा अध्यवसाय में वस्तु का प्रतिभास नहीं होता किन्तु प्रवृत्ति का विषय जाना जाता है ।

यह शंका हो सकती है : यदि अध्यवसाय में अध्यवसेय वस्तु प्रकट नहीं होती तो उसके अध्यवसित होने का क्या अर्थ है ?

वही अर्थ है जोकि प्रतिभास न होने पर भी प्रवृत्ति के विषय जानने का अर्थ होता है ।

परोक्ष होते हुए भी अध्यवसाय नियत–प्रकारक ज्ञान होता है ।

यदि यह शंका हो कि अप्रतिभास के समान होने पर भी अन्य विषय को छोड़कर नियत विषय की ओर ही प्रवृत्ति कैसे होती है ?

तो उत्तर है—यद्यपि गृहीत कुछ नहीं होता, तथापि विकल्प के नियत सामग्री से उत्पन्न होने के कारण, एवं नियत–आकृति वाला तथा नियत–शक्तिवाला होने के कारण, जल आदि में नियम से ही प्रवृत्ति होती है, जैसे धुंआ परोक्ष अग्नि के ज्ञान को जन्म देता है[20] ।

पदार्थ नियत विषय होते हैं और उनके स्वभाव प्रमाण–परिनिष्ठित होते हैं । उनके विषय में प्रश्न नहीं हो सकता कि उनकी शक्तियाँ

संकीर्ण क्यों नहीं होतीं । उनको अध्यवसित करने का अर्थ है आकृति–विशेष के संयोग से उनकी ओर प्रवृत्ति को उत्पन्न करना । सादृश्य के कारण आरोप के द्वारा प्रवृत्ति नहीं कही जा रही है । इसलिए आकृति में बाह्य अर्थ का अथवा बाह्य अर्थ में आकृति का आरोप मानकर दोष देने का अवकाश नहीं है । अपितु अपनी वासना के विपाक के कारण उत्पन्न होता हुआ बोध बाह्य वस्तु को न देखता हुआ भी उसमें अपनी वृत्ति का विस्तार करता है और अपारमार्थिक ही रहता है । इस प्रकार अन्याभाव–विशिष्ट एवं विजाति–व्यावृत्त अर्थ विधि है और वही अपोह शब्द का वाच्य है, शब्दों का अर्थ है और प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का विषय है ।

यहां प्रयोग इस प्रकार है—जो भी वाचक है उसका विषय अध्यवसित और अन्य–रूप व्यावृत्त वस्तु है, जैसे 'यहां कूप में जल है' यह वचन है, और 'गाय' आदि शब्द–रूप यह वाचक है ।

यह स्वभाव–हेतु का प्रयोग है । पूर्वोक्त न्याय से पारमार्थिक वाच्य–वाचक–भाव के अभाव होने पर भी यह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि अध्यवसाय कृत वाच्य–वाचक–भाव व्यवहार में सभी के लिए आवश्यक रूप से स्वीकार्य है । अन्यथा अशेष व्यवहार का उच्छेद प्रसक्त होगा । न यह हेतु विरुद्ध है, क्योंकि यह सपक्ष में विद्यमान है, और न अनैकान्तिक है,

क्योंकि जो अध्यवसित एवं विजाति–व्यावृत्त वस्तु को शब्द का विषय नहीं चाहते उन्हें वाच्य को स्वलक्षण, उपाधि, उपाधि–संयोग, सोपाधि अथवा बुद्धि की आकृति मानना होगा, क्योंकि गत्यन्तर सम्भव नहीं है और अविषयत्व के स्वीकार करने पर वाचकत्व ही अयुक्त हो जाएगा । अब इन विकल्पों में 'प्रथम और अन्तिम में प्रयोजन में असामर्थ्य के कारण शब्द–संकेत सम्भव नहीं है और उपाधि के अभाव के कारण बीच के तीनों विकल्पों में संकेत युक्त नहीं है ।' इस प्रकार अन्य वाच्य के अभाव से विषयवत्ता रूपी व्यापक के अभाव में विपक्ष में अभावशालिनी वाचकता अध्यवसित–बाह्य–विषयता से व्याप्त होती है । यह व्याप्ति–सिद्धि है ।

शब्दों के द्वारा अर्थ मुख्यरूप से कहा जाता है और अपोह उसमें गौण रूप से गम्य होता है । अध्यास से एक अर्थ होता है, प्रतिभास से अन्य होता है । वाच्य कल्पित होता है, तात्विक नहीं[21] ।

अपोह में विद्वानों का जो भी प्रपंच हो, उसका मर्म है वस्तु–स्वरूप का अस्फुरण । उसमें दृढ़ न रहने पर सब अनायास झर जाता है, उसमें दृढ़ रहने पर सब ठीक रहता है ।

टिप्पणियां

१. 'अपोहः शब्दार्थो निरुच्यते' यह पाठ स्वीकार करने पर । 'अपोहशब्दार्थो निरुच्यते', इस पाठ पर 'अपोह–शब्द के अर्थ की व्याख्या की जाती है' यह अर्थ होगा । पहला पाठ हरप्रसाद शास्त्री ने स्वीकार किया है, दूसरा प्रो० अनन्तलाल ठाकुर ने । धीरेन्द्र शर्मा ने पहला पाठ स्वीकार कर भी दूसरा अर्थ किया है ।

२. 'अपोह' का शाब्दिक अर्थ है 'अलग ले जाना' या 'अलग करना' । 'घट' शब्द से घटरूपी अर्थ अ–घट–रूपी अर्थ से अलग किया जाता है । शब्द अपने अर्थ को अर्थान्तर से अलग प्रकट करता है, यही शब्द के अर्थ की अपोहात्मकता है ।

शब्द और कल्पना नित्य–सहचर हैं–'विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः : दिङ्नाग : । शब्द के प्रयोग द्वारा ही हम 'यह ऐसा है, ऐसा नहीं है' इस प्रकार 'विकल्प' अथवा निर्णय करते हैं । इस व्यापार में शब्द का प्रयोग समस्त विषय–जगत् को दो अलग भागों में बांटता हुआ उनका द्वैधीकरण सम्पन्न करता है । यही शब्द का अपोह व्यापार है ।

यहां अपोह के तीन पक्ष अलग–अलग कहे गए हैं–१. 'जो दूसरे से अलग किया जाए अथवा जिससे दूसरा अलग किया जाए, अथवा जिसमें एक दूसरे से अलग किया जाए' । अपोह के विषय, जो परस्पर–विभक्त प्रतीत होते हैं, ये बाह्य स्वलक्षण हो सकते हैं : कर्णकगोमि के अनुसार यह अर्थ है 'जिसमें अलग किया जाए,' द्रष्टव्य प्रमाणवार्तिक १।४४ पर कर्णकगोमि । अथवा २. बुद्धिगत आकार, कल्पनाकार, हो सकते हैं, अथवा, ३. 'अलग करना ही अपोह है'–इस व्युत्पत्ति के अनुरूप अन्य–निवृत्ति अथवा अन्य–व्यावृत्ति ही अपोह है ।

क्षणिक स्वलक्षण सभी अद्वितीय : द्वितीय–व्यावृत्त : होते हैं, किन्तु उनमें शब्द का संकेत नहीं हो सकता । तथापि वे प्रवृत्ति के विषय होते हैं । ग्रहण–शक्ति में प्रत्येक स्वलक्ष्मण अपना अद्वितीय प्रतिभास अर्पित करता है । इन्हीं प्रतिभासों के जोड़–तोड़ से शुद्ध प्रतिबिम्ब खड़े करते हैं । इन प्रतिबिम्बों के द्वारा यथेष्ट स्वलक्षण–वर्ग तक पहुंच हो पाती है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्वलक्षण ही अपोहन का आधार है ।

परस्पर-विभक्त पदार्थ बाह्य स्वलक्षण एवं बौद्धिक आकार, दोनों ही हो सकते हैं ।

३. ये 'न्याय' हैं जिनका तार्किक साधन में सिद्धान्त के रूप में बहुधा प्रयोग होता है । इनका यहां 'सर्वतन्त्र-सिद्धान्त' के रूप में प्रयोग हुआ है ।

४. तात्पर्य यह है—शब्द से अभाव का साक्षात् बोध नहीं होता, यद्यपि प्रत्येक अर्थ के बोध में उसका अर्थान्तर से भेद गम्य होता है । अर्थ परस्पर भेद-युक्त होते हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शब्द का अर्थ ही अपोह होता है ।

५. अर्थ के स्वरूप का पता चलना और अर्थान्तर से उसके स्वरूप के भेद का पता चलना, ये पूर्वोत्तरकालिक भिन्न व्यापार न होकर एक ही समानकालिक व्यापार के दो पक्ष हैं । ऐसा नहीं है कि सादृश्य को देखकर शब्द पहले अर्थों का समूहन करता हो और फिर भेद देखकर उनका अपोहन और इस प्रकार वर्गीकरण । वास्तव में नाना भेद-युक्त अद्वितीय वस्तुओं का अनन्त विस्तार है जोकि प्रतिभास-गोचर होता है । इन प्रतिभासों में प्रयोजनीय किन्हीं भेदों का आश्रय लेकर शब्द विरोधी वर्गों के द्वन्द्व सृष्ट करता है, जिनमें वर्गों के मुख्य विभेद की तुलना में उनके अन्तर्गत भेद तिरस्कृत हो जाते हैं । यही शब्द का अपोह-व्यापार है जो वस्तु-प्रतिभास पर अर्थ-विकल्प आरोपित करता है । विभिन्न अर्थ विभिन्न वस्तु नहीं हैं, वे उनके व्यावहारिक और विकल्पित द्वैधीकार हैं और प्रतिभासों के सम्पिण्डित-विभक्त प्रतिबिम्ब ।

६. निषेध के दो भेद माने जाते हैं-प्रसज्य-प्रतिषेध और पर्युदास । पहले में प्रतिषेध प्रधान होता है, दूसरे में प्रतिषेध होते हुए भी अप्रधान होता है । 'यहां घड़ा नहीं है' यह प्रसज्य-प्रतिषेध है, 'वह अब्राह्मण है' यह पर्युदास है । पहले में अभाव मुख्य वाच्य है, दूसरे में ब्राह्मणत्व के अभाव का कथन क्षत्रिय आदि होने की सूचना देता है ।

६.क वाचस्पति मिश्र सर्वतन्त्र स्वतन्त्र विद्वान थे । नैयायिक होते हुए भी उनकी 'न्यायवार्तिक-तात्पर्यटीका' बौद्ध दर्शन का उनका गम्भीर और सूक्ष्म ज्ञान प्रकट करती है । वे दसवीं शताब्दी में : शक ८९८ में : विद्यमान थे ।

७. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, ३.२३६ ।

८. शब्द सार्थक होते हुए भी असद्विषयक कैसे हो सकता है, इस प्रश्न ने आधुनिक तार्किकों के मस्तिष्कों को भी पर्याप्त मथा है ।

रसेल ने 'सुकरात मरणशील है' और 'गोल सम–चतुष्कोण असत् है' इन दो वाक्यों में भेद करते हुए 'सुकरात' को नाम एवं 'गोल सम–चतुष्कोण' को बुद्धि–विकल्प अथवा अधूरा संकेत बताया है । नाम और विकल्प के भेद के पीछे रसेल के 'परिचयात्मक प्रत्यक्ष और वर्णनात्मक परोक्ष ज्ञान' का भेद है । ऐसे ही मूर ने अवास्तविक वाच्य पर विचार करते हुए धर्म और व्यक्तिभूत धर्मों का भेद किया है । रसेल ने अन्यत्र संवेद्य और अध्यवसेय का भेद प्रस्तुत किया है । बौद्ध मत वस्तु और वाच्य को मूलतः विभक्त करता है । भाव वस्तु से अभिन्न और प्रत्यक्षगोचर होता है, अभाव अनुमेय और विकल्प–सापेक्ष । वस्तु शब्द–गोचर नहीं है, और शब्द–गोचर अर्थ वास्तविक भाव एवं आरोपित अभाव में समान रहते हैं । उनकी यह भावाभाव–साधारणता वाच्य को वस्तु से पृथक् सिद्ध करती है । वस्तुतः बौद्ध मत में नाम भी विकल्प हैं और अतः सभी वाच्यार्थ विकल्पात्मक माने जाते हैं, और इसी से ये अभावपरक माने जाने चाहिये ।

८.क कुमारिलभट्ट प्रसिद्धतम मीमांसक आचार्य थे जिनका श्लोकवार्तिक मुख्यतया बौद्धमत के खंडन में अर्पित है ।

९. शब्द–गोचर अर्थ के भाव अथवा अभाव के ज्ञान के लिए अन्य शब्द एवं हेतु की आवश्यकता होती है । इसलिए यह मानना होगा कि शब्द वस्तु–स्वरूप का ग्रहण न कर विकल्प रचता है ।

९.क कश्मीरी नैयायिक भासर्वज्ञ ने अपनी कृति "न्यायसार" पर "न्यायभूषण" नाम की टीका लिखी थी । "न्यायभूषण" की बहुत प्रसिद्धि होते हुए भी वह उपलब्ध नहीं है । किन्तु "न्यायभूषण" नाम के अन्य ग्रन्थों के भी उल्लेख मिलते हैं ।

१०. मूल में कुछ अस्पष्टता है—'दर्शयेत्' का कर्त्ता कौन है ? 'अर्थान्तर' किसका संकेत करता है ? प्रस्तुत अनुवाद में 'दर्शयेत्' के कर्त्ता के रूप में 'कश्चित्' का अध्याहार किया गया है । 'अभाव' अर्थान्तर का आक्षेप करता है, इसलिए जिन गोपिंडों का अभाव है उनसे भिन्न अर्थ गोत्व अथवा अश्वादि पिण्ड हो सकते हैं । यहां गोत्व को अर्थान्तर लिया गया है । धीरेन्द्र शर्मा ने अश्वादि

पिंण्ड को अर्थान्तर लिया है और इन पंक्तियों की युक्ति को नैयायिक पूर्वपक्ष माना है ।

११. गोत्व, अश्वत्व आदि में एक 'जाति' शब्द का प्रयोग होता है, साथ ही वे पृथक् और स्वतन्त्र जातियां हैं । ऐसे ही व्यक्ति के बारे में माना जा सकता है और उसमें लाघव होगा । स्वतन्त्र और अनेक होते हुए भी व्यक्तियों में समान शब्द के प्रयोग का अवकाश रहता है ।

१२. त्रिलोचन एक प्रसिद्ध नैयायिक थे जिनका उल्लेख वाचस्पति मिश्र के गुरु के रूप में मिलता है । द्र0 अनन्तलाल ठाकुर : सं0 :, रत्नकीर्ति निबन्धावली, भूमिका, पृ0 २६ ।

१३. न्यायमत के अनुसार वस्तु-स्वभाव नाना सम्बन्धों से जुड़े हुए पदार्थों से निर्मित होता है और ज्ञान इस जटिल, अन्तर्विभक्त विषय का ग्रहण कर उसके अपने स्वाभाविक और दिये हुए विभेदों को ही विश्लेषण से पृथक् पृथक् नामांकित कर विभूत रूप मे उपलब्ध करता है । उदाहरण के लिए, नील के प्रत्यक्ष में द्रव्य-विशेष, नीलत्व सामान्य और समवाय सम्बन्ध का भी परिज्ञान होता है । मूल ज्ञेय वस्तु में ही अनेक धर्म और उनके संसर्ग विद्यमान रहते हैं । बौद्ध दृष्टि में मूल ज्ञेय स्वयं असंसृष्ट धर्म रूप है, केवल स्वलक्षण है । उनके सम्बन्ध कल्पित हैं और इस कल्पना अथवा योजना से व्यवहार की अनेक-धर्मात्मक वस्तुएं बनती हैं । दिङ्नाग की उक्ति है "न सम्बन्धः इन्द्रियेण गृह्यते" प्रत्यक्ष में सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता । अतएव समवाय विकल्प है, प्रतिभास नहीं ।

१४. पूर्वपक्ष की सूझः —ऊहा :अलग-अलग प्रतीतियों के विषय अलग-अलग व्यक्ति होते हैं, इसलिए समान प्रतीति का समान विषय होना चाहिये वही जाति है । इसके खण्डन में प्रदर्शित व्यभिचार : हेतु का विपक्ष में अस्तित्वः ।

एक जाति-रूप समान विषय के अभाव में : विपक्ष में : भी अलग-अलग जातियों में समान प्रतीति होती है : हेतु : ।

धीरेन्द्र शर्मा के अनुसार, पूर्वपक्ष है=समान प्रतीति समान वस्तु का अनुगमन करती है; उत्तर-यह कैसे सम्भव है, जब समान प्रतीति स्वलक्षणों से उत्पन्न होती है ?

यह समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पूर्वपक्षीय ऊहा-प्रवर्तन 'येयं' से प्रारम्भ होकर 'अर्हतीति' तक है । प्रत्याख्यान का हेतु व्यभिचार है जोकि मूल में आगे स्पष्ट किया गया है ।

१५. अथवा, भेद के तुल्य होने पर भी कहीं जाति पदार्पण करती है, कहीं नहीं, तात्पर्य एक ही है=परस्पर विभिन्न व्यक्तियों में भी अन्य व्यक्तियों से समान भेद होने के कारण एक नाम का व्यवहार होता है । घोड़े परस्पर भिन्न हैं किन्तु वे गाय आदि से सभी भिन्न हैं, इसीलिए उन्हें एक नाम दिया जाता है, जोकि अन्यापोह के द्वारा व्यापारित होता है ।

प्रत्यासत्ति का अर्थ है निकटता अथवा सम्बन्ध । यहां प्रत्यासत्ति अन्यापोह है ।

१६. विशेषण का ज्ञान विशिष्ट के ज्ञान का कारण होता है, इसलिए विशिष्ट के ज्ञान से विशेषण के ज्ञान का अनुमान होता है । उदाहरण के लिए दण्डी के ज्ञान से दण्ड के ज्ञान का अनुमान होता है, ऐसे ही 'गाय' के ज्ञान से गोत्व के ज्ञान का अनुमान होता है ।

किन्तु प्रश्न यह है कि विशिष्ट का ज्ञान जिस विशेषण के ज्ञान का अविनाभावी है वह विशेषण क्या उस विशिष्ट से पृथक् है ? उन्हें पृथक् मानना प्रत्यक्ष से बाधित होता है, क्योंकि दो विभिन्न वस्तुओं का विशेष्य-विशेषण रूप से एकसाथ प्रतिभास नहीं होता ।

१७. व्यक्ति के प्रत्यक्ष होने पर उसके साथ नित्य-सम्बद्ध जाति का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, किन्तु नहीं होता । इस दृश्यानुपलब्धि से जाति का अभाव सिद्ध होता है ।

१८. शब्द का अर्थ है अपोह-विशिष्ट विधि । विधिरूप हैं बाह्य अर्थ और ज्ञानाकृति । अब प्रश्न यह है कि इन विषयों का शब्द के द्वारा भाव अथवा अभाव कैसे स्थापित किया जा सकता है । शब्द-व्यापार का इन विषयों से सम्बन्ध कैसे स्थापित होगा ? ज्ञानाकृति स्व-संविदित है और अध्यवसाय का विषय नहीं है । पहले कारण से उसका तात्विक विधि-निषेध नहीं हो सकता, दूसरे से सांवृतिक । प्रत्यक्षगोचर बाह्य अर्थ का तात्विक विधि-निषेध नहीं हो

सकता । इसलिए शब्द के द्वारा बाह्य अर्थ का सांवृतिक विधि–निषेध ही सम्भव है ।

तात्पर्य यह है कि शब्द के प्रयोग के द्वारा बाह्य अर्थ पर विधि–निषेध आरोपित होते हैं । शब्द–व्यापार विकल्पात्मक है, उसका लक्ष्य वास्तविक ।

१९. धर्मोत्तर बाह्यता को आरोपित मान रहे हैं, जब कि बाह्यता पर विधि–निषेध आरोपित है ।

२०. अध्यवसाय में सभी वस्तुओं का अग्रहण होता है और किसी का भी प्रतिभास नहीं होता । तथापि अध्यवसाय के आधार पर प्रवृत्ति से वस्तु–विशेष ही की प्राप्ति होती है, जिस किसी की नहीं । मानो अंधेरे में बिना देखे हुए ही सोच कर अनेक वस्तुओं में से अभीष्ट वस्तु प्राप्त हो जाए । इसका कारण यह है कि अध्यवसायात्मक ज्ञान परोक्ष होते हुए भी नियमानुसारी है । इसका उदाहरण है अनुमान । वस्तुतः एक व्यापक अर्थ में अनुमान और अध्यवसाय एक ही हैं ।

२१. द्र0 धीरेन्द्र शर्मा—'अर्थ अद्वितीय : स्वलक्षण : है, जिसका स्वभाव अध्यवसाय और प्रतिभास से भिन्न है । वस्तुतः वाच्य और स्थिर भाव नहीं है ।'

यह सिद्धान्त–विरुद्ध है क्योंकि जहां अध्यवसाय और प्रतिभास का वैलक्षण्य सिद्धान्त में इष्ट है, प्रतिभास से विलक्षण स्वलक्षण की कल्पना अप्रामाणिक है ।

*

अपोहसिद्धि–विमर्श

सौत्रान्तिकों के अनुसार सभी द्रव्य : सत् पदार्थ अथवा वस्तुएं : भावात्मक, क्रियाशील एवं क्षणिक हैं[1] । फलतः घट–पट आदि का हमारा परिचित विश्व वास्तविक नहीं कहा जा सकता । किन्तु अवास्तविक होते हुए भी उसकी व्यावहारिक सार्थकता स्वीकार करनी होगी । हमें यह मानना पड़ेगा कि घट–पट आदि का ज्ञान हमारी कल्पना होते हुए भी हमें वांछित वस्तु तक पहुचाने और अवांछित से बचाने में सहायक सिद्ध होता है । यदि वस्तुएं क्षणिक और स्वलक्षण : अद्वितीय स्वभाव से युक्त : हैं, हमारी सामान्य–लक्षणात्मक कल्पनाएं उन पर व्यवहार में कैसे लागू होती हैं ?

न आकाश–कुसुम की सी कोरी कल्पना व्यवहारोपयोगी होती है और न त्रिलोकी से न्यारी, उत्पन्न होते ही विनष्टः वस्तु, जो न पहले कभी थी, न भविष्य में कभी होगी । व्यवहार के लिए स्थिरास्थिर, सदृशासदृश वस्तुओं का जगत् चाहिए जिसमें साध्य और साधन को जोड़ने के लिए स्मृति, विचार और सम्प्रेषण का सार्थक अवकाश हो । व्यवहार न विशुद्ध कल्पना पर आधारित है, न विशुद्ध परमार्थ पर । उसका विश्व कल्पित और अकल्पित, दोनों ही प्रकार के तत्वों से सम्पिण्डित है । जहां सौत्रान्तिकों की दृष्टि उसके वस्तु–पक्ष पर केन्द्रित है, विज्ञानवादियों की दृष्टि उसके कल्पना–पक्ष पर । दिङ्नाग ने दोनों को समुच्चित कर एक नई धारा प्रवाहित की । उन्होंने कांट के समान ही वस्तुवाद और विज्ञानवाद के समन्वय के द्वारा यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार कल्पनात्मक होते हुए भी हमारा बौद्धिक ज्ञान व्यवहार–समर्थ होता है और किस प्रकार व्यावहारिक जगत का अधिष्ठान होते हुए भी परमार्थ हमारी कल्पनाओं से अछूता रहता है[2] ।

दिङ्नाग के अनुसार हमारे व्यावहारिक ज्ञान में दो अत्यन्त विभिन्न तत्व संश्लिष्ट रहते हैं, जिनमें एक साक्षात्कारात्मक है, दूसरा विकल्पात्मक । पहले में अर्थ का अपरोक्ष ग्रहण होता है, दूसरे में अनादि वासना के सहारे स्मृति–विषयीभूत एवं शब्दानुविद्ध प्रतिभासों को उपादान बनाकर अर्थ अध्यवसित होते हैं । ग्रहण में दिये हुए विषय का

प्रतिभास अथवा प्रतिबिम्ब होता है, अध्यवसाय में विषय जोड़–तोड़ से विकल्पित होता है । प्रतिभास स्पष्ट किन्तु अपरिभाषित, विकल्प परिभाषित किन्तु अस्पष्ट होता है । प्रतिभास और विकल्प का भेद कांट के 'आन्शाउउंग' (Anschauung) और 'बेग्रिफ' (Begriff) के भेद के समानान्तर है । विकल्प का प्रयोग 'कॉन्सेप्ट' सौर 'जज्मेंट' दोनों के लिये ही होता है ।

प्रत्यक्ष को कल्पनापोढ़ अथवा निर्विकल्प बताकर दिङ्नाग ने कल्पना को नाम, जाति आदि की योजना बताया है । ये पांच मूल कल्पनाएं हैं—नाम, जाति, द्रव्य, गुण और कर्म । वैशेषिक दर्शन में जो पदार्थ हैं, जिन्हें प्रशस्तपाद ने 'विशेषण' कहा है, वे यहां कल्पनाओं में अन्तर्भूत हैं[3] । ये विकल्प न वस्तु–धर्म हैं, न उनसे उद्गृहीत, ये मन की अनादि वासना से सिद्ध होते हैं । वस्तु–प्रतिबिम्ब न होने के कारण ये कल्पना हैं और अनादि वासना के कारण कांट के शुद्ध 'बोग्रिफ' से तुलनीय ।

शब्द और विकल्प अन्योन्याश्रित हैं, शब्द से विकल्प और विकल्प से शब्द जन्म लेते हैं—विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः[4] । इसीलिए नाम को मुख्य विकल्प माना गया है । व्यवहार- परिचित जगत् को यथार्थ मानने के लिए सबसे बड़ी वकालत भाषा की ओर से होती है जिसे अनेक प्रतिष्ठित दार्शनिकों ने यथार्थ का मान–चित्र समझ लिया है[5] । इसी कारण शब्द–कोटियों से पदार्थ–कोटियां निश्चित की गई हैं । यथार्थवादी वैशेषिकों के विरोध में दिङ्नाग की यह अपूर्व सूझ है कि उन्होंने भाषा को वस्तु के स्थान पर विकल्प से जोड़ा है । शब्द वस्तु–स्वरूप को स्पर्श नहीं करते, वे विकल्प–सहचर होने के नाते व्यवहार में उपयोगी होते हैं । उनका अर्थ वास्तविक न होकर विकल्पित होता है । इन अर्थ–विकल्पों का प्रतिपादन अर्थान्तर के अपोह अथवा व्यावृत्ति के द्वारा होता है । वस्तु–स्वरूप को प्रकट करने के स्थान पर शब्द परस्पर–व्यावृत्त विकल्प–द्वन्द्व सृष्ट करते हैं जिनके सहारे पुरुषार्थी ऐसी क्षण–सन्तान तक पहुंचता है जो अनभीष्ट नहीं होती । उदाहरण के लिए 'जल' शब्द से उपस्थापित 'जल' और 'अ–जल' का विकल्प–द्वन्द्व जलार्थी पुरुष के लिये मृत्तिका और मृगतृष्णा

आदि को छोड़कर नदी, कूप आदि के 'जल' सन्तानों तक पहुंचने में संकेत बनता है । एक खेल होता है जिसमें गोपित वस्तु को खोजने वाला सिर्फ ऐसे प्रश्न पूछ सकता है जिनके उत्तर 'हां' या 'ना' में ही दिये जा सकते हैं । उसे अन्य वस्तु के निषेध के द्वारा ही वस्तु को खोजना होता है । इसी प्रकार मानव-बुद्धि अपने विकल्प-जाल अथवा शब्द-जाल में उस वस्तु-जगत् को निरूपित करना चाहती है जिसका स्वरूप उसके लिए सदा गुप्त रहता है । फलतः शाब्दिक अथवा विकल्पात्मक ज्ञान में न केवल परोक्षता अपितु एक अनिवार्य निषेधात्मकता एवं द्वन्द्वात्मकता रहती है इसी कारण इस प्रकार के ज्ञान का प्रामाण्य स्वतन्त्र न होकर वस्तुतः अनुमान के अन्तर्भूत ही होता है ।

यही है दिङ्नाग के अपोहवाद का अभिप्राय, जिसका उन्होंने प्रमाणसमुच्चय के पंचम परिच्छेद में सर्वप्रथम प्रतिपादन किया । अपोह का सिद्धान्त उनकी ज्ञान मीमांसा का अवश्य अंग है और अन्ततोगत्वा क्षण-प्रतिभास एवं विकल्प के द्वैत पर तथा भाषा एवं विचार के अन्तरंग सम्बन्ध पर आधारित है । शब्द से द्योतित अर्थ के स्वरूप पर चले आते चिरन्तन विवाद में अपोहवाद ने एक नई और महत्त्वपूर्ण स्थापना प्रस्तुत की । 'अर्थ' जाति, व्यक्ति आदि नहीं है क्योंकि वह 'वस्तु' ही नहीं है, अपितु जाति, द्रव्य आदि का तत्व भी केवल भाषागत है । यह भी एक प्रकार की 'कोपरनिकन क्रान्ति' है—भाषा वस्तुओं का चित्रण नहीं करती, अपितु व्यावहारिक 'वस्तुएं' भाषा-निहित मूल कल्पनाओं का[6] करती हैं । वस्तु ही होती है, उसका स्वभाव होता है और वह दिखता है :-'स्पष्ट' होता है:; अर्थ 'बनाया' या कल्पित होता है, उसका स्वभाव नहीं होता, वह केवल एक विभाजक रेखा के सदृश होता है जो निश्चित होती हुई भी 'स्पष्ट' नहीं होती । 'अर्थ' व्यावृत्तिमात्र, अथवा अपोहमात्र है । अपोह विधि का प्रतियोगी है । जहां प्रतिभास का विषय विध्यात्मक होता है, विकल्प का विषय अपोहात्मक होता है । शब्द और विकल्प के सहचर होने के कारण शब्द का विषय भी अपोह ठहरता है । यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यवहार में प्रतिभास और विकल्प, अनुभव और भाषा, विधि और अपोह एक संकीर्ण मिली-जुली स्थिति में ही उपलब्ध होते हैं । यह एक अनादि अविद्या है जिस पर व्यवहार आश्रित है ।

'अपोह' की सिद्धि के लिए दिङ्नाग ने 'अर्थ' के सम्भव अर्थों पर विचार किया है । शब्द से प्रतिपाद्य अर्थ विशेषात्मक हो सकता है अथवा सामान्यात्मक । पहला विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि विशेष में संकेत–ग्रहण नहीं हो सकता । सामान्यात्मक अर्थ अभिलाप्य हो सकते हैं, किन्तु सामान्य वास्तविक नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य को वास्तविक मानने में अपरिहार्य कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं । एक स्थान पर विद्यमान सामान्य अन्यत्र उत्पन्न वस्तु में बिना पूर्व स्थान से हटे प्रकट हो जाता है । जहां वस्तु है उस स्थान से सम्बद्ध हुए बिना वहां की वस्तु को व्याप्त करता है । न वहां जाता है, न वहां पहले से था, पीछे प्रकट हो जाता है । यद्यपि न उसके अंश हैं, न वह पूर्व आधार को छोड़ता है । सामान्य मानने पर ऐसी कठिनाइयों की कड़ी जुड़ जाती है :

अन्यत्र वर्तमानस्य ततोऽन्यस्थानजन्मनि ।
तस्मादचलतः स्थानाद्वृत्तिरित्यतियुक्तता ॥
यत्रासौ वर्तते भावस्तेन सम्बध्यते न तु ।
तद्देशिनं च :न.१ः व्याप्नोति किमप्येतन्महाद्भुतम् ॥
न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ वास्तविक नहीं हो सकता, न विशेष, न सामान्य । शब्द का अर्थ विकल्पित सामान्य ही हो सकता है, और विकल्पित सामान्य निषेधात्मक या अपोहात्मक ही हो सकता है । विकल्प का अर्थ–परिच्छेदात्मक व्यापार परस्पर–परिहार–पूर्वक सामान्य द्वन्द्व प्रत्युपस्थित करता है जो बुद्धिगत होते हुए भी बाह्य वस्तुओं पर समारोपित होते हैं ।

उद्योतकर ने न्यायवार्तिक में दिङ्नाग की सामान्य के विरुद्ध युक्तियों का और उनके प्रतिपादित अपोहवाद का खण्डन किया है[8] । समानता की प्रतीति एक असंदिग्ध बात है और उसका हेतु होना चाहिए । यही सामान्य की वास्तविकता के पक्ष में प्रधान युक्ति है । पिण्डों के अन्तराल में सामान्य के होने का प्रश्न असंगत है क्योंकि अन्तराल आकाश हो, अभाव हो, अथवा द्रव्यान्तर हो, तीनों ही विकल्पों

में वह सामान्य की व्याप्ति का क्षेत्र नहीं होता । इसी प्रकार पिण्ड और सामान्य के सम्बन्ध को लेकर जो प्रसंग उठाए गए हैं वे भी मिथ्या विकल्पों पर आधारित हैं । सामान्य न अवयवी है, न समुदाय ; इसीलिए पिण्ड के साथ उसका सम्बन्ध एकदेशी है अथवा सकल, इस प्रकार से व्यवस्थित नहीं किया जा सकता । न सामान्य के द्वारा पिण्ड की व्याप्ति कोई घटना है जिसके पूर्व पिण्ड और सामान्य पृथक् निर्देश्य हों और यह प्रश्न किया जा सके कि सामान्य की उसमें गति किस प्रकार और कहां से हुई ।

दिङ्नाग ने अन्य विकल्पों को अनुपपन्न ठहरा कर शब्द का अर्थ अपोह निश्चित किया था । उद्योतकर ने सामान्य के खण्डन के लिये उत्पादित विकल्पों को अस्वीकार किया है और 'न जाति-शब्दो भेदानां वाचक आनन्त्याद्व्यभिचाराच्च' इस उक्ति का उपहास किया है । वस्तुओं में अनुगत धर्म प्रतीतियां दुहराते हैं और यह प्रत्ययानुवृत्ति समान शब्द के प्रयोग का कारण बनती है । बौद्ध व्यक्ति-पिण्डों को निर्विशेष और अद्वितीय अखण्ड पदार्थ मानते हैं, इसीलिये विशेषण-विशेष्य-भाव पर आधारित शब्द-व्यापार उनके लिए अगम्य है ।

अपोहवाद के विरुद्ध उद्योतकर ने बहुत सी कठिनाइयां प्रस्तुत की हैं । जब तक 'गो' शब्द का अर्थ नहीं पता होगा तब तक 'अ-गो' शब्द का अर्थ कैसे पता चलेगा ? सभी निषेध विधि पर आधारित होता है । यदि विधि-पदार्थ ही नहीं है तो निषेध निरर्थक हो जाएगा । 'गो' शब्द का अर्थ यदि भावात्मक है तो कोई विवाद नहीं होगा, यदि अभावात्मक माना जाता है तो प्रतीतिविरुद्ध होगा । फिर, शब्दों में अन्य-प्रतिषेध के द्वारा परस्पर परिहार पूर्वक दो राशियां नहीं बनतीं । उदाहरण के लिए 'सर्व' शब्द से परिहृत 'असर्व' निरर्थक है । वहां अपोहवाद लागू नहीं होगा । यह भी बतलाना होगा कि अपोह भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लिए एक ही है अथवा अनेक । यदि एक अपोह अनेक व्यक्तियों से संबंध रखता है तो वह सामान्य हो जाएगा । यदि स्वयं अनेक है तो व्यक्तियों के समान ही अनन्त होने के कारण उसका अभिधान अनुपपन्न होगा । यह भी बताना चाहिए कि अपोह वाच्य है अथवा अवाच्य । जब वह स्वयं वाच्य है तो सब शब्दों की

अन्यापोह–परकता अनैकान्तिक हो जाती है । अपोह के कहने के लिए अनपोह का अपोह करना होगा, उसके लिए अन्य का । यदि अपोह अवाच्य माना जाय तो 'अन्य शब्द के अर्थ का अपोह किया जाता है', इत्यादि कहने में व्याघात होगा । दिङ्नाग ने कहा है कि अन्यापोहपूर्वक शब्द अपने अर्थ को प्रकाशित करता है–'अन्यशब्दार्थापोहं स्वार्थं कुर्वती श्रुतिरभिधत्ते' । इस वाक्य का अर्थ है–शब्द दूसरे का अभिधान न करते हुए अभिधान करता है । यही अभिधेय यदि अपोह से भिन्न हो तो वही मुख्य अर्थ होगा, और अपोहवाद व्याहत होगा । अन्यथा, इस प्रकार की उक्ति व्यर्थ हो जाती है । इस उक्ति में स्वार्थ और अभिधेयार्थ स्पष्ट रूप से पृथक् प्रतीत होते हैं । 'अपोह को अपने अर्थ में डालता हुआ शब्द अभिधान करता है' । किसका ? यहां अपोह, स्वार्थ और अभिधेयार्थ का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है, फिर अपोहवाद में विशेषण और विशेष्य का सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं होगा । 'अनील' और 'अनुत्पल' के परिहार समान नहीं हैं । ऐसी स्थिति में 'नीलोत्पलं' का सामानाधिकरण्य नहीं बनेगा, जिसमें जो नीला है वही उत्पल है ।

धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के मत को परिष्कारपूर्वक फिर से प्रतिपादित किया । एक ही स्वलक्षण का स्वरूप और पररूप अध्यवसित होने के कारण एक ही पारमार्थिक प्रमेय दो व्यावहारिक प्रमेयों में विभक्त हो जाता है[9] । जिस जिस अन्य अर्थ से पररूपता निश्चित की जाती है उतनी ही व्यावृत्तियां बनती हैं और उन्हीं के आधार पर विशेषों को छोड़ते हुए जाति–भेद कल्पित होते हैं । ये व्यावृत्तियां ही, शब्द से प्रतिपादित होती हैं । वस्तु का भावात्मक रूप समूचा ही प्रत्यक्ष–विदित होता है, वह शब्द अथवा अनुमान का विषय नहीं होता । अन्यथा, शाब्दिक और तार्किक ज्ञान में भी वस्तुओं का अखण्ड ग्रहण प्रसक्त हो जायगा । इसके विपरीत शब्द का अर्थ अपोह मानने पर उससे व्यावृत्ति–विशेष का बोध होता है । शब्दानुविद्ध प्रत्यय अपरिच्छिन्न और स्फुट ज्ञान के स्थान पर परिच्छिन्न और अस्फुट ज्ञान को उत्पन्न करता है, अखण्ड वस्तु के स्थान पर उसका एक विशेष पररूप प्रस्तुत करता है । शाब्दिक–तार्किक ज्ञान की अस्फुटता (एब्स्ट्रेक्टनेस) उसके व्यावृत्यात्मक (कांन्सेप्टचुअल डिटर्मिनेशन) होने के कारण है । शब्द और हेतु दोनों का ही विषय वस्तु न होकर अपोह होता है । शब्द से

वस्तु–स्वरूप पर पररूप के व्यवच्छेद समारोपित होते हैं । इस प्रकार सामान्य लक्षण के स्वलक्षण पर समारोप और व्यवच्छेद के द्वारा शब्द–विकल्प का व्यापार सम्पन्न होता है । शब्दों का अर्थ–प्रत्यायन वस्तुओं का यथार्थ प्रतिबिम्बन. न होकर उनका वासनानुगुण विकल्प है, जिसमें उनके अर्थक्रियाकारिता के भेद मूल्यांकित और व्यवस्थित होकर अर्थ–सृष्टि के आधार बनते हैं ।

धर्मकीर्ति ने नैयायिकों के द्वारा उद्भावित दोषों का निवर्तन किया है । उद्योतकर का प्रश्न था कि समानता की प्रतीति के असंदिग्ध होने पर उसका उपयुक्त कारण बताना होगा । धर्मकीर्ति का कहना है, नाना वस्तुओं के भेदों को प्रच्छादित करता हुआ ज्ञान संवृति कहलाता है[10] । संवृति से ही भिन्न होते हुए भी पदार्थ अभिन्न से प्रतीत होते हैं । तात्पर्य यह है कि एक अनादि अविद्या के कारण हम वस्तुओं के सूक्ष्मतम भेदों को पकड़ नहीं पाते हैं और उन पर सामान्य आरोपित करते हैं । यह सामान्य वस्तुगत न होकर बुद्धिगत है और वस्तुतः एक मिथ्या विकल्प है । वस्तुओं के भिन्न होते हुए भी उनमें एकार्थक्रिया–कारिता देखी जाती है, जैसे अनेक औषधियाँ ज्वर–शमन करती हैं । ऐसी स्थिति में इन वस्तुओं पर आरोपित अभेद व्यवहार में वंचक नहीं होता । इससे सामान्य प्रत्ययों की बाह्यनिष्ठता का भ्रम समर्थित होता है । परमार्थतः वस्तुओं में न संसर्ग होता है न भेद । उनमें एक अथवा अनेक रूपों की कल्पना अनादि वासना के कारण बुद्धि से उत्पन्न होती है । सामान्य और विशेष, साध्य और साधन, इस प्रकार के भेद बुद्धि–विकल्पित अर्थ में होते हैं, नकि वस्तु में । धर्मकीर्ति के अनुसार, जो ज्ञान शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है वह कल्पना है, क्योंकि शब्द–प्रयोग में संकेत की विषयभूत वस्तु का कालान्तर में अन्य वस्तु के साथ स्मृति के द्वारा तादात्म्य स्थापित किया जाता है । इस प्रक्रिया में विगत और वर्तमान के एकीकरण से शब्द का विषय अवास्तविक हो उठता है[11] ।

शब्द के द्वारा व्यवहार में अर्थक्रिया–समर्थ वस्तु की प्राप्ति होनी चाहिए । जाति के अर्थ–क्रिया में अयोग्य होने के कारण उसमें संकेत व्यर्थ है । जातियुक्त में संकेत करने के स्थान पर तो व्यक्ति ही में

संकेत करने पर लाघव होगा । जैसा आनन्त्य व्यक्ति में है वैसा ही जातियुक्त में भी है । और फिर जाति स्वीकार करने पर भी उसका विजाति से व्यवच्छेद करना ही होगा । ऐसी स्थिति में इस व्यवच्छेदात्मक अपोह को स्वीकार करने में ही लाघव होगा । इस प्रकार जाति अथवा जातिमान् में संकेत न मानकर विकल्पात्मक अपोह में ही संकेत मानना चाहिए और उसके वस्तु पर आरोप के द्वारा अर्थ–क्रिया–समर्थ अर्थ की प्राप्ति ।

उद्योतकर ने यह आपत्ति की थी कि विधि के ज्ञान के बिना निषेध का ज्ञान कैसे होगा ? जिसे यह पता ही नहीं कि 'वृक्ष' क्या है, वह 'अवृक्ष' से भेद कैसे समझेगा ? धर्मकीर्ति का प्रश्न है—पहली बार 'वृक्ष' का अर्थ समझने में उसका 'अवृक्ष' से भेद समझा जाता है कि नहीं ? सामने अवस्थित वृक्ष में जो 'वृक्ष' शब्द का संकेत ग्रहण करता है, वह केवल उसी एक वस्तु को संकेत का विषय समझता है अथवा उसे एक मानसिक विकल्प का उदाहरण–मात्र मानता हुआ शेष वस्तुओं में उसके द्वारा वृक्ष और अवृक्ष का भेद समझता है ? स्पष्ट ही संकेत–ग्रहण की कठिनाई विधि–पक्ष में वैसी ही है जैसी अपोह–पक्ष में । दोनों ही स्थितियों में शब्द का व्यापार एक व्यवस्थापक–विकल्प के रूप में होता है ।

उद्योतकर ने 'सर्व' पद का उदाहरण देकर कहा था कि सब शब्दों में अन्य–व्यवच्छेद नहीं हो सकता । धर्मकीर्ति ने 'ज्ञेय' पद के उदाहरण से यही आपत्ति उठाते हुए उत्तर दिया है कि सभी शब्द व्यवहारार्थक होते हैं । शब्दों का अर्थ वाक्यगत होने पर ही होता है, और वाक्य प्रवर्तन अथवा निवर्तन ही में प्रयुक्त होते हैं । अतएव यह मानना पड़ेगा कि 'सर्व' और 'ज्ञेय' आदि शब्द भी सन्दर्भ–विशेष में विशेष अभिप्राय लेकर ही प्रयुक्त होते हैं ।

उद्योतकर की अन्य आपत्तियों पर धर्मकीर्ति का कहना है कि दिङ्नाग की उक्ति में 'अन्यापोह' और 'स्वार्थाभिधान' ये पृथक् नहीं हैं, न इनमें वास्तविक विशेष्य–विशेषण भाव है । शब्द–प्रतिपाद्य सभी अर्थ परस्पराभाव–रूप होते हैं । शब्द के अर्थ–प्रतिपादन में दो पृथक् व्यापार नहीं होते जिनसे विधि रूप और निषेध रूप दो प्रकार के अर्थ पृथक्–

पृथक् व्यवस्थित हों और वस्तु-जगत् के साथ उसकी छाया के समान एक अभाव-जगत् भी प्रस्फुटित हो । वस्तु-जगत् शब्द-गोचर नहीं है, और शब्द-गोचर जगत् में भाव और अभाव जुड़वां कल्पनाएं हैं । शब्दों से भेद प्रतिपादित होते हैं और ये भेद-रेखाएं ही कल्पना को अर्थाकार प्रदान करती हैं । ये भेद वास्तविक नहीं हैं, इनका वास्तविक प्रतीत होना अविद्या है ।

उद्योतकर ने अपोहपक्ष में 'नीलोत्पल' आदि में सामानाधिकरण्य को बाधित कहा है, पर यह आपत्ति निराधार है । एक विच्छेद को सूचित करता हुआ शब्द जब अन्य विच्छेद को व्याप्त करता है और एकत्वपूर्वक भासित होता है तब सामानाधिकरण्य होता है । 'नीलोत्पल' में उभय-व्यावृत्ति-विशिष्ट एक वस्तु का अध्यवसाय होता है ।

एक-कार्य-कारी वस्तुओं में व्यक्ति-भेद तिरस्कृत कर एक शब्द की प्रवृत्ति होती है । इसके लिए उनमें वास्तविक सामान्य की आवश्यकता नहीं है । प्रत्युत उनमें एक सामान्य की वृत्ति तर्क-संगत नहीं हो सकेगी । वे व्यक्ति सामान्य के आधार हो सकते हैं या व्यंजक । आधार आधेय का उपकारक होता है, किन्तु नित्य पदार्थ अनुपकार्य है, और सामान्य नित्य माना जाता है । सामान्य अपने स्वरूप से न उपकारक हो सकते हैं, न स्थितिकारक । अतएव सामान्य की व्यक्ति में वृत्ति आधाराधेय भाव से नहीं हो सकती । ऐसे ही अभिव्यक्ति का अर्थ है, ज्ञान-योग्यता का आधान, किन्तु अविकार्य सामान्य में अतिशय का आधान सम्भव नहीं है । वस्तुतः सभी सम्बन्ध तादात्म्य एवं कार्यकारण-भाव, इन्हीं दो सम्बन्धों के रूप हैं । सामान्य व्यक्ति-भिन्न हैं, न कार्य है, न कारण है । अतएव उसका व्यक्तियों से किसी प्रकार का वास्तविक सम्बन्ध सम्भव नहीं है । यदि व्यक्ति सामान्य का व्यंजक हो तो पहले उसे प्रदीपवत् ग्राह्य होना होगा और ऐसी स्थिति में सामान्य की अभिव्यक्ति ही अनावश्यक हो जाएगी । अनुपकार्य और अविकार्य सामान्य सर्वत्र और सदा व्यंग्य होगा अथवा कहीं और कभी भी नहीं । उसमें व्यक्तिकृत कादाचित्कत्व अथवा क्वाचित्कत्व नहीं हो सकता । यह स्मरणीय है कि अभिन्न शब्द के प्रयोग के लिए अभिन्न वस्तु की आवश्यकता नहीं है । 'पाचक', 'पाठक' आदि में नैयायिक भी

मानते हैं कि न व्यक्त्यभेद है, न जाति । इन स्थलों में वाचक के अभेद का निमित्त कर्म है जो स्वयं अनित्य और व्यक्तिवत् भिन्न है । पृथक् व्यक्तियों की एक–कार्यता ही यहां एक शब्द के प्रयोग का वास्तविक कारण है[12] ।

यद्यपि शब्द बाह्य अर्थों को प्रदर्शित नहीं करते तो भी उनका प्रयोग नियम–रहित नहीं होता । उनका प्रयोग लोक–समय और वासना से नियमित होता है । शब्द–विकल्प बाह्य अर्थों पर सर्वथा निरपेक्ष ढंग से आरोपित नहीं होते हैं । यह वस्तु–वैचित्र्य एवं वासना–वैचित्र्य है कि सब भेद समान–रूप से स्मृत अथवा अध्यवसित नहीं होते । जिस प्रकार सभी व्यक्तियों के अलग–अलग होने पर भी उनमें जाति कुछ को अपनाती है, कुछ को नहीं, उसी प्रकार भेद होने पर भी कहीं समान शब्द का प्रयोग होता है, कहीं नहीं ।

कुमारिल के द्वारा किए हुए बौद्ध–दर्शन के विस्तृत खण्डन में अपोहवाद का भी विस्तृत खण्डन मिलता है[13] । कुमारिल के अनुसार भाव और अभाव, दोनों ही पदार्थ हैं, जिनमें एक का प्रत्यक्ष आदि से ज्ञान होता है, दूसरे का अनुपलब्धि से । भाव के भी दो अनिवार्य पक्ष हैं—सामान्य और विशेष, जाति और व्यक्ति, जिनका परस्पर तादात्म्य अथवा भेदाभेद–सम्बन्ध है । शब्द का अर्थ जाति है जो कि वस्तु–निष्ठ होती है । कुमारिल का कहना है कि अपोह भी प्रकारान्तर से जाति ही है । अपोह पर्युदास हो सकता है अथवा प्रसज्य–प्रतिषेध । पहले पक्ष में निषेधपूर्वक भावान्तर का ही अभिधान होता है । और यह भावान्तर निर्विकल्प विशेष न होने के कारण सामान्य ही हो सकता है । यदि अपोह को प्रसज्य–प्रतिषेध माना जाए तो वह वस्तु–शून्य विकल्प–मात्र होगा । ऐसी स्थिति में शब्द का अर्थ बुद्ध्याकार ही होगा जोकि स्वयं विधिरूप है । वास्तविक अर्थ के अभाव में कल्पनामात्र किसका अपोह करेगी ? यदि शब्द का वाच्य अवास्तविक है तो सभी शब्द पर्याय हो जाएंगे क्योंकि वस्तु में ही भेद होते हैं । यदि अपोहों में भेद स्वीकार किया जाता है तो उसमें वास्तविकता और फिर विधिरूपता माननी होगी । यदि अपोह अपने विषय के अन्तर्गत शाबलेय

आदि) भेद से भिन्न नहीं होता तो उसके बहिरंग (अश्वादि) भेद से किस प्रकार भिन्न हो सकेगा ?

अपोह को शब्द और हेतु से प्रतिपाद्य कहा गया है, किन्तु वस्तुगत साधारण-धर्म के अभाव में शब्द और हेतु का प्रयोग किस प्रकार होगा ? सामान्य के अभाव में न शब्द और अर्थ का अन्वय सिद्ध होगा, न हेतु और साध्य का । शाबलेय बाहुलेय से भी भिन्न है और अश्व से भी । सामान्य के अभाव में वही शब्द शाबलेय और बाहुलेय को अपना विषय और अश्वं को अपना अविषय कैसे करेगा ?

अपोह का निश्चय ही कैसे होगा ? प्रत्यक्षगोचर विषय शब्द के अगोचर है, और अनुमान के लिए अन्वय सम्भव होना चाहिए । न अपोह में संकेत-ग्रहण हो सकता है । जो 'गाय' से परिचित नहीं है वह 'गाय से अन्य' के निषेध को कैसे समझेगा ? यह कहना ठीक नहीं है कि यह कठिनाई सभी संकेत-ग्रहण में है क्योंकि अपोहमुक्त विषय में शब्द और हेतु की वृत्ति स्वीकार न करने पर भी यह मानना होगा कि ज्ञान वस्तु को ही अपना आलम्बन बनाता है, नकि उसकी अन्य-व्यावृत्ति को । अपोह होने पर भी न वह शब्द का विषय होगा, न उस विषय का विशेषण । 'अश्व' के बोध में, अश्वत्व विषय का विशेषण होगा, नकि उसका गाय आदि से भेद ।

यदि अपोह स्वयं भावात्मक है तो उसका अबोध भावात्मक सिद्ध हो जाएगा और प्रकारान्तर से वास्तविक सामान्य सिद्ध होगा, अन्यथा अभाव का अभाव होने पर अपोह स्वयं ही भावात्मक होकर सामान्य से अधिक होगा ।

अपोहों में भेद और नियम वासना के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि जब बाह्य विषय हैं ही नहीं तो न उनका अनुभव होगा, न उनकी वासना ।

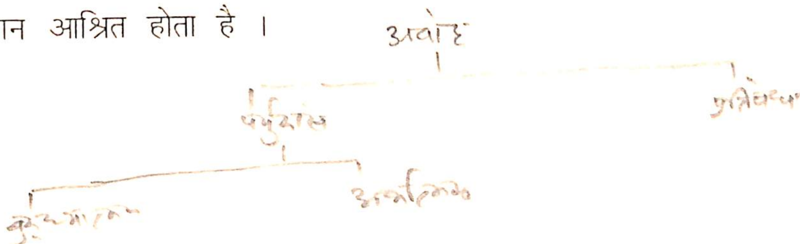
अपोह का वाचक शब्द कैसे उपलब्ध होगा ? शब्द-स्वलक्षण संकेत में अनुपयोगी है और शब्द-सामान्य स्वीकार नहीं किया जा रहा । वाच्य-रूप अपोह के समान ही वाचक-रूप अपोह भी अवास्तविक और असिद्ध हो जाएगा । फिर इन कल्पित वाचकों और कल्पित वाच्यों में

वाच्य–वाचक–सम्बन्ध भी वैसे ही होगा जैसे आकाश–कुसुम और शश–शृंग के बीच में ।

बौद्ध शब्द और हेतु के व्यापार में अन्वय को गौण, व्यतिरेक को मुख्य मानते हैं । किन्तु विधि अथवा अन्वय के बिना व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता । न अपोह का अवस्तु होने के कारण लिंग, संख्या, क्रिया और काल से कोई सम्बन्ध जुड़ सकता है । निषेध और समुच्चय भी अपोहात्मक नहीं माने जा सकते । नकार का नकार विधि हो जाएगी और समुच्चय का सम्बन्ध भी नकार से नहीं है । न 'प्रमेय', 'ज्ञेय' आदि में अपोह हो सकता है ।

परिच्छिन्न विकल्प–प्रतिबिम्ब को शब्दार्थ नहीं कहना चाहिए क्योंकि आकार ज्ञान में नहीं वाच्य अर्थ में होता है । आकार–विशिष्ट वाच्य पदार्थ स्पष्ट प्रतीत होता है और आन्तरिक ज्ञानारूढ़ आकार अप्रमाणित है । इस प्रकार के आन्तरिक अर्थ को अभिधेय नहीं माना जा सकता ।

शान्तरक्षित ने **तत्वसंग्रह** में कुमारिल के खण्डन का उद्धार और साथ ही अपोहवाद का नया परिष्कार प्रस्तुत किया । उनका कहना है कि अपोह के अपरिज्ञान से ही ये आक्षेप उत्पन्न होते हैं । वास्तव में अपोह दो प्रकार का होता है—पर्युदास और प्रतिषेध । पर्युदास भी दो प्रकार का है—बुद्ध्यात्मक और अर्थात्मक । विजाति–व्यावृत्त अर्थ–स्वलक्षण ही अर्थात्मक अपोह है और विभिन्न स्वलक्षणों में एक अनुगत रूप से अध्यस्त–बुद्धि–प्रतिभास ही बुद्ध्यात्मक अपोह है । जैसे हरीतकी आदि औषधियां भिन्न होती हुई भी ज्वर–शमन में सहायक होती हैं, ऐसे ही भिन्न होते हुए भी स्वलक्षण एक प्रत्यवमर्श के हेतु बनते हैं और उनके सहारे उनके सविकल्प ज्ञान में जो अर्थ प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं वे बाह्य अर्थ न होते हुए भी बाह्य अर्थ निश्चित किए जाते हैं । विभिन्न शब्द विभिन्न व्यावृत्तियों की कल्पना करते हैं । इन व्यावृत्तियों में अन्वय सम्भव है, ये ही विकल्पित सामान्य–लक्षण हैं जिन पर अनुमान आश्रित होता है ।



स्वलक्षणात्मक अपोह इन्द्रिगोचर है । उस पर आरोपित अर्थ-प्रतिबिम्बात्मक अपोह बुद्धिस्वरूप होने के कारण स्वसंवेदन-गोचर है । इसलिए वे सारी आपत्तियां, जो अपोह को नितान्त अभावात्मक, असत् अथवा अविदित मानने से उत्पन्न होती हैं, निराधार हैं । वास्तविक अर्थ भिन्न हैं, किन्तु उनमें अभेद की प्रतीति होती है, यह प्रतीति विकल्पात्मक है, किन्तु यह वस्तुओं पर आरोपित होती है । शब्द-विकल्प का व्यापार व्यवच्छेदात्मक है किन्तु इसका लक्ष्य विधि-रूप वस्तु ही है । इस प्रकार अपोह में प्रत्यक्ष और कल्पना, वस्तु और अवस्तु, विधि और निषेध, इनका एक जटिल मिश्रण है । प्रत्यक्ष और कल्पना के भेद को न समझकर लोग शब्द के अर्थ को बाह्य वस्तु मान लेते हैं । अपोहवादियों के अनुसार शब्द का अर्थ विकल्प-परवर्ती प्रतिभास है जो व्यवच्छिन्न और वस्तु-समारोप्य होने के द्वारा व्यवहारोपयोगी होता है । अपोह का अर्थ है भेद—वस्तु-भेद और उस पर समारोपित विकल्प-भेद । वह भिन्न वस्तु से पृथक् कोई भाव नहीं है, न मूर्तिमान् अभाव है ।

यह कहना ठीक नहीं है कि वासना अवस्तु-विषयक नहीं होती । ज्ञान का विषय अविद्या-वासना से अवास्तविक होता है और इन कल्पित विषयों के संस्कार चित्त को वासित करते हैं । संस्कार-वासना अथवा अनुभव-वासना से अविद्या-वासना अथवा विकल्प-वासना पूर्व-स्वीकृत है । वाच्य और वाचक तात्विक न होकर प्रतिबिम्बात्मक हैं और उनका सम्बन्ध सांवृत है । जो वास्तविक को ही वाच्य मानते हैं उन्हें बताना होगा कि 'महाश्वेता' आदि किस प्रकार के वाच्य हैं । अपोहवादी इसका निषेध नहीं करता कि शब्द-प्रयोग से मन में विधिरूप प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है । अपोह में सांवृत विधिरूप अर्थ का निषेध नहीं है, तात्विक विधि का है । सांवृत विधिरूप अर्थ निःस्वभाव है और निषेध से ही परिभाषित होता है और अपोह-वाच्य बनता है । शब्द से पहले अर्थ-प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है और वह सामर्थ्य से अन्यव्यावृत्ति सूचित करता है । यह बाहर अध्यस्त अर्थ-प्रतिबिम्ब ज्ञानारूढ़ आकारमात्र है । वक्ता जिस अपने ज्ञान के आकार का बाहर अनुभव करता है उसी आकार का श्रोता नहीं करता, किन्तु 'दो तैमिरिकों के दो चन्द्र' देखने की तरह भ्रान्तिबीज के समान होने के कारण दोनों अपने-अपने

प्रतिबिम्बों को व्यापक सदृश रूप से अध्यस्त करते हैं और यह विश्वास करते हैं कि वे एक ही विषय को कह–सुन रहे हैं ।

वाचस्पति मिश्र ने **तात्पर्यटीका** में धर्मकीर्ति और धर्मोत्तर के अनुसार अपोहवाद को प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है[14] । विकल्प–विषय को ही शब्द सूचित करते हैं, बाह्य वस्तु को नहीं । 'यह वही है' इस प्रकार से देश, काल और अवस्था के भेदों में एकता का निश्चय करना विकल्प है और उसका गोचर ही शब्द का गोचर है । वह कोई वास्तविक अर्थ नहीं है—न स्वलक्षण है, न सामान्य है, न ज्ञान है, न ज्ञानाकार है, अपितु वह अलीक बाह्य है । विकल्प का विषयभूत अलीक बाह्य :–मिथ्या प्रतीयमान बाह्य अर्थ : वास्तविक भेदों को ग्रहण न करने के कारण उत्पन्न होता है । विभिन्न वास्तविक बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष के अनन्तर विकल्प–वासना से मिथ्या बाह्य आकार प्रतीत होता है जिसमें न बाह्य अर्थों के परस्पर भेद गृहीत होते हैं, न बाह्य वस्तु और आन्तर प्रतिभास का भेद पकड़ा जाता है । शब्दों में व्यक्त विकल्प अभेद निश्चय होते हैं जिनके विषय अवास्तविक सामान्य होते हैं । इन सामान्यों के लागू होने से प्रत्यक्षगत और वस्तुगत विभेदों का ग्रहण नहीं होता । इस प्रकार शब्द–विकल्प बाह्य रूप में प्रतीयमान किन्तु अवास्तविक सामान्य विषयों को प्रतिपादित करते हैं ।

ये मिथ्या बाह्य विषय अन्य–व्यावृत्ति–रूप ही हो सकते हैं । यह तीन हेतुओं से सिद्ध होता है—१. इन विषयों पर अस्तित्व और नास्तित्व का समान रूप से विधान किया जा सकता है, २. ये अत्यन्त विलक्षण अर्थों में सामान्य–लक्षण जताते हैं, ३. ये अनुभव में इसी रूप में मिलते हैं । १. भाव और अभाव में समानता स्वरूप की नहीं हो सकती, वह केवल अन्य की अपेक्षा समान भेद की ही हो सकती है, इसलिए वाच्य स्वरूप न होकर अन्य–व्यावृत्ति ही हो सकती है । उदाहरण के लिए विज्ञान और शश–शृंग दोनों को ही अमूर्त कहा जा सकता है । अतएव अस्तित्व और नास्तित्व दोनों से सम्बन्धित 'घट' शब्द पट आदि के अभाव को ही सूचित कर सकता है । २. 'घट' आदि शब्द अत्यन्त विभिन्न क्षणों में समान प्रतीति को अन्य से समान भेद के द्वारा ही जन्मा सकते हैं । अलग–अलग होते हुए भी घट–क्षण पट आदि के

क्षणों से बराबर दूर है । इसलिए 'घट' शब्द का वाच्य घटात्मक सामान्य–लक्षण पट आदि का व्यवच्छेद ही हो सकता है । ३. 'घट' आदि शब्दों के वाच्यों का ज्ञान स्पष्ट ही उनके 'पट' आदि से विभेद का ज्ञान होता है ।

इन युक्तियों के खण्डन में वाचस्पति का कहना है कि जाति का वर्तमान व्यक्ति से सम्बन्ध ही उसका भाव है, अतीत और अनागत व्यक्तियों से सम्बन्ध ही अभाव । इस प्रकार शब्द–वाच्य जाति का भाव और अभाव दोनों से संबंध उत्पन्न होता है । दूसरी ओर, भाव और अभाव की खाई को अन्य–व्यावृत्ति नहीं पूर सकती । भाव :स्वलक्षणः विधिरूप होता है, उसमें अभावरूप अन्य व्यावृत्ति कैसे समायेगी ? न अन्य व्यावृत्ति होने से ही स्वलक्षण विकल्पित जाति से तुलनीय हो सकता है, अन्यथा मच्छर और हाथी गधे से भिन्न होने के कारण समान हो जाएंगे । यह कहा जा सकता है कि सरूपता विकल्पित सामान्य और परमार्थभूत स्वलक्षण की नहीं है, अपितु विकल्पित सामान्य और सविकल्प प्रत्यक्ष में प्रतीयमान स्वलक्षण की है[15] । किन्तु कल्पितः= सविकल्प–प्रत्यक्ष–गोचर : के साथ कल्पित विकल्प–गोचर का सादृश्य स्थापित करना ही व्यर्थ है क्योंकि दोनों ही अर्थ–क्रिया में अशक्त हैं । यह कहा जा सकता है कि सविकल्प प्रत्यक्ष में प्रतिभास और विकल्प का, उद्देश्य और विधेय का सारूप्य अन्य व्यावृत्ति के द्वारा सिद्ध होकर विचारों को व्यवहारोपयोगी बनाता है । किन्तु इस प्रकार के परस्पर–सम्बन्ध के लिए भी परमार्थ और कल्पना का सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा, वही असम्भव है ।

पारमार्थिक स्वलक्षण पर कल्पना का आरोप ही किस प्रकार होगा ? उनमें सादृश्य दृष्टिगोचर नहीं हो सकता । बिना सादृश्य के अनुभव के आरोप निरर्थक़ और मनमाना हो जाएगा । आरोप को अनादि–वासना–सिद्ध मानने पर अनुभव में सीखने की आवश्यकता ही नही रह जायेगी । नारिकेल–द्वीप से नवागत भी अग्नि को देखते ही पहिचान लेगा । यदि यह कहा जाए कि वस्तु प्रतिभास को जन्म देती है और प्रतिभास विकल्प को और इस प्रकार विकल्प वस्तु का परम्परा–कार्य होने के कारण उसके साथ सम्बद्ध हो जाता है, तो यह

मानना पड़ेगा कि यह सम्बन्ध अनुभव–वासना अथवा संस्कार के द्वारा सिद्ध होता है, न कि अनादि अविद्या–वासना अथवा विकल्प–वासना के द्वारा । संस्कार–मूलक विकल्प यथार्थ पर ही आधारित होंगे, नकि कहीं बाहर से उस पर आरोपित[16] । और फिर ज्ञानाकार के समान अथवा स्वलक्षण के समान अलीक सामान्य भी विकल्प का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि कल्पना की प्रसूति होने के कारण वह नियत एकत्व का अध्यवसाय नहीं हो सकता । वह कल्पना के साथ बदलता रहेगा; उसमें न एकता होगी, न निश्चयात्मकता । सामान्य स्वरूपतः स्थिर और नियत इकाइयां प्रतीत होते हैं, इसलिए वे विकल्पित नहीं हो सकते । इन्हें कल्पनाधीन अस्थिर और अनुभूत इकाइयां मानने पर वे सुख आदि स्वलक्षण के समान अवाच्य हो जाएंगे ।

"शब्द और हेतु से अपोह व्यक्त होता है, इस व्यवस्था को सब वस्तुओं की अवाच्यता के प्रतिपादन के लिए सिद्ध किया जाता है ।" इस श्लोक से ज्ञानश्री ने अपना निबन्ध प्रारम्भ किया है[17] । उनका कहना है कि अपोहवाद के प्रतिपादन का प्रयोजन परमार्थ की अनभिलाप्यता का प्रतिपादन है । पहले उन्होंने इस प्रश्न को लिया है कि शब्द से मुख्यतया जब विधिरूप अर्थ अभिहित होता है तो अपोह को शब्द का अर्थ क्यों कहा जाता है ? वे इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि शब्द विधिरूप अर्थ का अभिधान करते हैं, किन्तु शब्द अर्थों का परिच्छिन्न और अतएव व्यवच्छिन्न रूप से अभिधान करते हैं । उनसे सूचित अर्थ के बोध में विधि और निषेध दोनों ही बोधित होते हैं । इस व्याख्या के अनुसार, अपोह में पर्युदास–प्रतिषेध समझना चाहिये, न कि प्रसज्य–प्रतिषेध । अपोह पर जोर इसलिए नहीं दिया जाता कि शब्द से किसी विधिरूप अर्थ की स्फूर्ति नहीं होती बल्कि इसलिए कि शब्द अपने अर्थ के अभिधान में अन्य अर्थ का व्यवच्छेद करते हैं । शब्द के प्रयोग से एक सम्पिण्डित और अस्पष्ट बुद्ध्याकृति अवश्य प्रस्तुत होती है और इस प्रकार का प्रतिबिम्बात्मक अर्थ विधिरूप कहा जा सकता है । किन्तु व्यवच्छेदात्मक विकल्प से ही वह परिभाषित होता है और उसकी विधिरूपता वस्तुभूत अर्थों की अद्वितीय और स्वभावात्मक विधिरूपता से अत्यन्त भिन्न होती है । वस्तु–स्वभाव

शब्द–प्रतिपाद्य नहीं है । यदि वस्तु–स्वभाव को विध्यात्मक मानें तो शब्द–प्रतिपाद्य अर्थ को अपोहात्मक कहने में ही सार्थकता होगी ।

अर्थ दो प्रकार के हैं : बाह्य और आन्तरिक । बाह्य अर्थ अध्यवसाय से ही वाच्य व्यवस्थापित होते हैं, नकि स्वलक्षण की परिस्फूर्ति से । प्रत्यक्ष में जिस प्रकार के देश, काल और व्यवस्था में नियत और परिस्फुट रूप वाले स्व–लक्षण व्यक्त होते हैं वैसे विकल्प में नहीं होते । प्रत्यक्ष–विदित रूप स्पष्ट होता है और शब्द एवं विकल्प के द्वारा विदित रूप अस्पष्ट होता है । इसमें यह सिद्ध होता है कि शब्द–गोचर विकल्प–विषय प्रत्यक्ष–गोचर वस्तु से भिन्न है । एक ही वस्तु के दो भिन्न प्रतिभास नहीं हो सकते । दो भिन्न प्रतिभास दो भिन्न विषयों को सूचित करते हैं, जैसे 'पीत शंख' के बीच में 'पीत' प्रतिभास और 'शंख' प्रतिभास । ऐसे ही 'घट', 'पट' आदि के विकल्प से भी होता है । इनमें अध्यवसेय रूप अन्य है और प्रत्यक्ष रूप अन्य । किन्तु दोनों का व्यवहार में विवेक नहीं किया जाता । यह एक प्रकार के संवादी भ्रम की स्थिति है ।

इस प्रकार से अपोह की व्याख्या करके ज्ञानश्री ने उस पर वाचस्पति आदि के अनेक आक्षेपों का उत्तर दिया है और अपोह के अतिरिक्त अन्य विकल्पों का खण्डन किया है । रत्नकीर्ति ने अपने गुरु ज्ञानश्री का अनुसरण करते हुए ही 'अपोहसिद्धि' नाम का प्रकरण लिखा । वस्तुतः रत्नकीर्ति की कृति को किसी भी दृष्टि से मौलिक नहीं कहा जा सकता । उसे ज्ञानश्री की 'अपोहसिद्धि' का संक्षेप कहना चाहिये जिसमें बहुधा ज्ञानश्री के ही वाक्यों को अविकल दुहरा दिया गया है । प्रारम्भ में ही अपोहवाद के विरोध में यह पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है कि अपोह के तीन सम्भव अर्थ है और तीनों ही अपोहवाद से असंगत हैं । शब्द के बाह्य अर्थः=वस्तु : और आन्तरिक अर्थः=बुद्धिगत आकृतिः दोनों ही भावात्मक या विधिरूप हैं और अपोह नहीं कहे जा सकते । निषेधात्मक और अभावात्मक अर्थ की प्रतीति 'घट', 'पट' आदि शब्दों से साक्षात नहीं होती । अनुभव से यह स्पष्ट है कि शब्द से भावात्मक अर्थ की ही स्फूर्ति होती है, नकि अभावात्मक की ।

इसके उत्तर में रत्नकीर्ति यह स्वीकार कर लेते हैं कि शब्द का मुख्य अर्थ विधिरूप है । पर उनका कहना है कि विधि अपोह–विशिष्ट होती है । शब्द से उत्पन्न ज्ञान किसी वस्तु का साक्षात्कार नहीं होता बल्कि परोक्ष और आपेक्षिक होता है । शब्द बिना अन्य–व्यावृत्ति के अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते । 'घट' शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उसमें 'पट' आदि की व्यावृत्ति आवश्यक रूप से निहित रहती है । इस अन्य व्यावृत्ति को वाचस्पति जातिमूलक कहते हैं । किन्तु इसमें कल्पना–गौरव है क्योंकि जाति मानने पर भी व्यक्तियों को विजाति- व्यावृत्त मानना ही होगा । यहां रत्नकीर्ति ने अपोहवाद को विधिवाद और प्रतिषेधवाद के समन्वय के रूप में प्रस्तुत किया है । यह व्याख्या दिङ्नाग के अपोहवाद से कुछ दूर पड़ती है और सम्भवतः नैयायिक और मीमांसक आलोचनाओं का परिणाम है ।

अर्थ की विधिरूपता में और उस विधि की अपोहविशिष्टता में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अपोह अन्य का होता है । और न अपोह–विशिष्ट विधि में शब्द–संकेत मानने में कोई विशेष कठिनाई है । 'घट' और 'अघट' के बोध में वैसा ही अन्योन्याश्रय है जैसाकि 'घट' और 'घटत्व' के बोध में । यहां कठिनाई किसी विशेष सिद्धांत की न होकर भाषा–प्रयोग में अन्तर्निहित एक अनिवार्य द्वन्द्वात्मकता की है । यह द्वन्द्वात्मकता अपोहवाद में स्पष्ट स्वीकृत है और भाषा एवं विकल्प का प्रधान लक्षण कहा गया है । अन्योन्याश्रय का दूषण जातिवाद में अपरिहार्य है, अपोहवाद में शिरोधार्य है ।

अपोह में विधि और निषेध के सम्बन्ध को स्पष्ट कर रत्नकीर्ति यह प्रतिपादित करते हैं कि शब्द बाह्य अर्थ को स्वरूपतः न बता कर अध्यवसाय के अनुरूप बताते हैं । शब्द–गोचर अर्थ प्रत्यक्ष–गोचर अर्थ से भिन्न है क्योंकि एक में अस्पष्ट और दूसरे में स्पष्ट प्रतिभास होता है । एक वस्तु के दो प्रतिभास नहीं हो सकते और न ये दो प्रतिभास दो वस्तुओं के हो सकते हैं, क्योंकि इनमें एक अस्पष्ट और वाच्य है । प्रत्यक्ष–प्रतिभास का विषय वस्तु है, बौद्धिक अध्यवसाय का विषय अवस्तु है । शब्द–प्रतिभास के विषय के साथ भाव और अभाव का

योग किया जा सकता है । इससे भी स्पष्ट होता है कि वह विषय बाह्य अर्थ नहीं हो सकता ।

वाचस्पति और कुमारिल ने शब्द-विषय की इस 'भाव और अभाव में समानता' का विवेचन किया है और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इससे शब्द-प्रतिपाद्य अर्थों की काल्पनिकता नहीं सूचित होती । वाचस्पति ने वर्तमान और अवर्तमान व्यक्ति के साथ जाति के सम्बन्ध को भाव और अभाव कहा है । यह सन्दिग्ध है । कुमारिल ने कहा है कि शब्द से जिस सामान्य का बोध होता है उसमें अस्तित्व और नास्तित्व अनिर्धारित रहता है । यह भी असंगत है ।

यदि विकल्प वस्तु-विषयक होता तो प्रत्यक्ष के समान वह वस्तु का समग्र और स्फुट बोध देता और निश्चयात्मक होने के कारण वह वस्तु के सम्पूर्ण स्वरूप को निश्चित करता । किन्तु यह अनुभव-विरुद्ध है । शब्द-ज्ञान का यह अधूरापन इस बात से नहीं समझा जा सकता कि वह सिर्फ धर्मी का अथवा उसके धर्म-विशेष का ज्ञान है, क्योंकि धर्म और धर्मी का भेद वास्तविक न होकर काल्पनिक है । वाचस्पति का यहां पर कहना है कि एक उपाधि के ग्रहण से अन्य उपाधि का ग्रहण प्रसक्त नहीं होता क्योंकि उपाधियां परस्पर और वस्तु-स्वभाव से भिन्न होती हैं । किन्तु स्वभाव और उपाधियों के भेदपूर्वक उपकार्योपकारक सम्बन्ध मानने पर भी उपकारक के ग्रहण से उपकार्य का ग्रहण होना चाहिए, जबकि वे एक ही स्थान और द्रव्य में हैं ।

इन युक्तियों से—शब्द-ज्ञान की अस्पष्टता एवं परिच्छिन्नता, उसके विषय की भाव और अभाव में समानता, तथा शब्द से प्राप्त ज्ञान की असमग्रता—सिद्ध होता है कि शब्द का विषय स्वलक्षण नहीं हो सकता और न वह वास्तविक सामान्य हो सकता है । सामान्य-प्रत्यय शब्द और आकृति से अनुविद्ध और विलक्षण व्यक्तियों को एक करता हुआ सा उत्पन्न होता है । ठीक वैसी कोई वस्तु नहीं होती । सामान्य की वास्तविकता न प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है, न अनुमान से । सामान्य प्रत्यय की उत्पत्ति व्यक्तियों की एक-कार्यता से होती है ।

जाति मानने पर अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं : व्यक्तिवत् परस्पर भिन्न जातियों में अनुवृत्ति की प्रतीति बिना अनुवृत्त जाति के माननी होगी, जाति और व्यक्ति में समवाय–सा कृत्रिम सम्बन्ध मानना होगा, अत्यन्त विभिन्न व्यक्तियों में भी जाति कहीं अवतीर्ण होगी, कहीं नहीं । जाति के पक्ष में यह अनुमान दिया जाता है कि विशिष्ट–ज्ञान विशेषण–ज्ञान–पूर्वक होता है, इसलिये घट–ज्ञान घटत्व–ज्ञान पूर्वक होना चाहिए । विशेष्य–विशेषण भाव के कल्पित होने के कारण यह अनुमान ठीक नहीं है ।

भाषा के द्वारा बाह्य अर्थों पर विकल्पों का आरोप होता है और इसलिए विधि–निषेध बाह्य अर्थ का ही सांवृत रूप से होता है । बाह्य अर्थ ही अध्यवसित होता है । उसका बुद्धि के समक्ष प्रतिभास न होते हुए भी वह प्रवृत्ति का विषय निश्चित किया जाता है । विकल्प–जनित प्रवृत्ति बाह्य अर्थ के अप्रत्यक्ष होते हुए भी उसकी ओर नियत रूप से ही उद्दिष्ट इस बात से होती है कि विकल्प नियत सामग्री से ही नियत आकार में उत्पन्न होता है । जैसे धूम रूपी हेतु से परोक्ष अग्नि का ज्ञान उत्पन्न होता है । ऐसे ही शब्द से परोक्ष अर्थ का । विकल्पित आकार का बाह्य अर्थ पर आरोप सादृश्य के कारण न होकर वासना के विपाक के कारण होता है ।

अन्त में अपोह का साधक स्वभावानुमान प्रस्तुत किया गया है— सभी वाचक अध्यवसित और अन्य–व्यावृत्त वस्तु–विषयक होते हैं, जैसे यह वाक्य–"उस कूप में जल है ।" 'गाय' आदि शब्द–रूप भी वाचक हैं ।

इस अनुमान में व्याप्ति की सिद्धि 'विकल्पान्तर के खण्डन पर निर्भर करती है । स्वलक्षण और बुद्ध्याकृति में संकेत असम्भव है, उपाधि स्वयं असम्भव है । इसलिये व्यवहारसिद्ध वाचकता का विषय बाह्य वस्तु ही अपने अध्यवसित रूप में हो सकती है ।

*

टिप्पणियां

१. उनके अनुसार 'पंच-धर्मी में असंस्कृत धर्म अभावात्मक और चित्त-विप्रयुक्त धर्म प्रज्ञप्तिमात्र हैं । फलतः रूप, चित्त और चैत्त ही द्रव्यसत् हैं ।' द्रष्टव्य गो0 च0 पाण्डे, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास ।

२. दिङ्नाग पर द्र0 रेण्डल, फ्रैग्मेंट्स फ्राम दिङ्नाग, लंदन, १९२६, हटोरी, दिङ्नाग आन परसेप्शन, एच0ओ0एस0, ४७ ।

३. द्र0 रेन्डल, फ्रैग्मेंट्स, पृ0 ६५ से ।

४. दिङ्नाग से बहुधा उद्धृत ।

५. द्र0 "हम अपने लिये तथ्यों से चित्र बनाते हैं" :विट्गेन्स्टाइन, ट्रैक्टेटस लोजिको फिलोसोफिकस, २.१ ।

६. द्र0 कान्ट, क्रिटीक आव प्योर रीज़न, अनु0 माइकल जान, पृ0 १४, पादटिप्पणी २ ।

७. रेण्डल ने इस उद्धरण को दिङ्नाग से बताया है :फ्रैग्मेंट्स, पृ0 ५६, किन्तु ये श्लोक प्रमाणवार्तिक में उपलब्ध होते हैं, प्रमाणवार्तिक स्वार्थानुमान परिच्छेद, श्लोक १५४-५६, मलवाणिया सम्पादित, वाराणसेय संस्करण ।

८. न्यायवार्तिक, चौखम्बा संस्करण, पृ0 ३१५-३१ ।

९. प्रमाणवार्तिक, २.५४ । बौद्ध-भारती-ग्रन्थमाला ।

१०. वही, ३.६८-७० ।

११. न्यायबिन्दु, पटना, १९५५, पृ0 ४७-५५ ।

१२. यह "कार्यो की एकता" भी सम्भवतः 'अध्यवसित' ही माननी चाहिए ।

१३. श्लोकवार्तिक में प्रस्तुत कुमारिल की आपत्तियों का तत्वसंग्रह में प्रायः समूचा उद्धरण मिलता है-तत्वसंग्रह, वाराणसी, १९६८, भाग १, पृ0 ३६०-८६ ।

१४. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, चौखम्बा, पृ0 ४८३-९१ ।

१५. यह कान्ट के मत से तुलनीय है कि विकल्पों :कान्सेप्ट्स, बेग्रिफः का गोचर 'प्रतिभास' :फिनोमिना, एरशाइनुंगः है नकि परमार्थ ।

१६. यहां प्रश्न अनुभव-सापेक्ष और अनुभव-निरपेक्ष विकल्पों का है ।

१७. ज्ञानश्री मित्र—निबन्धावली, पटना, पृ0 २०३ से ।

*